झारखण्ड का इतिहास

डॉ. सिकरादास तिर्की

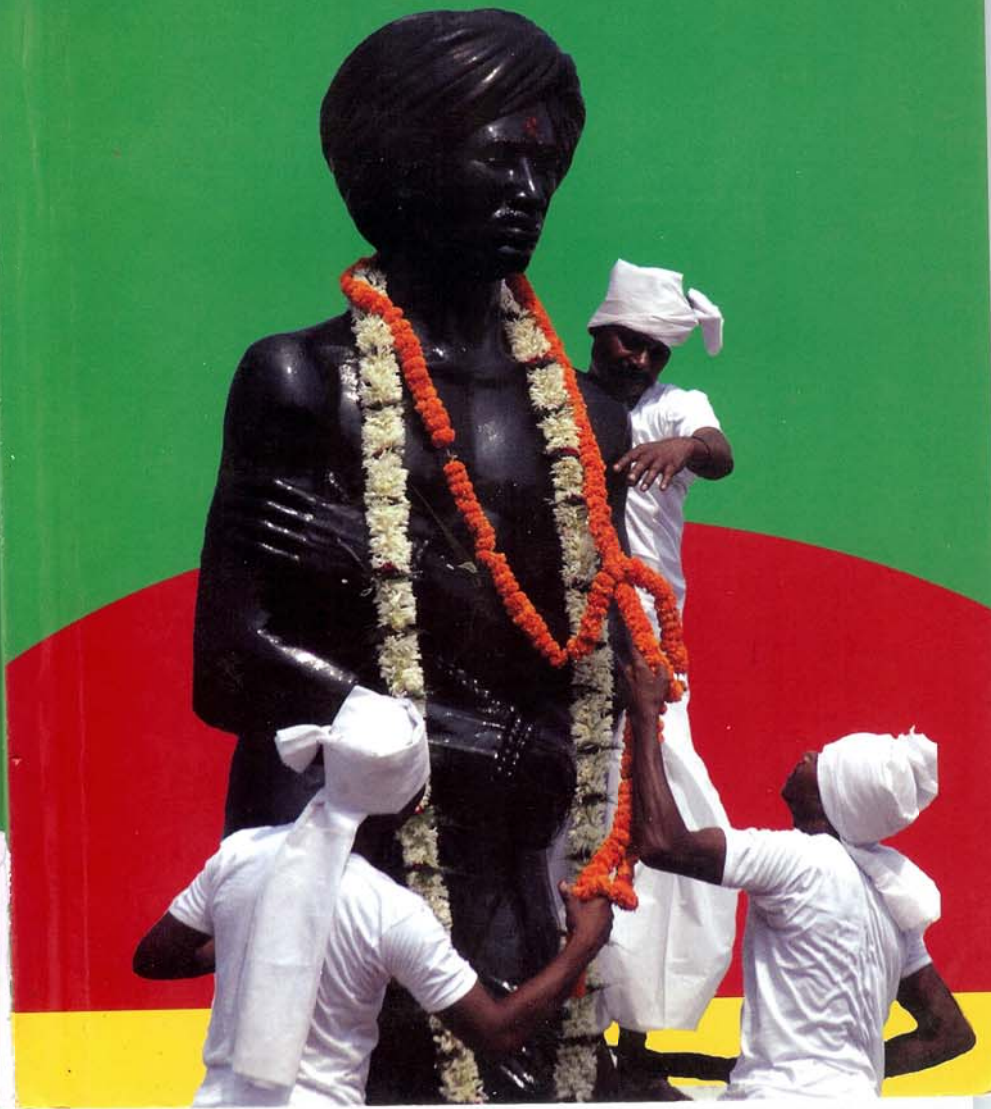

BVP - 1897

16/1/18

(5/9)

झारखण्ड का इतिहास

झारखण्ड का इतिहास

डॉ. सिकरादास तिर्की

PYARA FOUNDATION

प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन
रांची (झारखंड)

प्रकाशक
प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन
चेशायर होम रोड, बरियातु, राँची-834009 (झारखण्ड)
www.kharia.in | pkfranchi@gmail.com

सर्वाधिकार © सिकरादास तिर्की
प्रथम संस्करण : जून, 2015
आईएसबीएन : 978-93-81056-53-0

शब्द-संयोजन : फूलो कच्छप, आम, राँची
आवरण सज्जा : बिर बुरु ओम्पाय मीडिया 9234301671
मुद्रक : कैलाश पेपर कन्वर्सन प्रा. लि., राँची-834001

मूल्य : ₹ 150

JHARKHAND KA ITIHAS
by **Dr. Sikra Das Tirkey**

अनुक्रम

पहला अध्याय :

प्रागैतिहासिक जीवन 11

दूसरा अध्याय :

प्राचीन काल 51

तीसरा अध्याय :

मध्य काल 59

चौथा अध्याय :

आधुनिक काल 71

प्रस्तावना

इतिहास मानव जाति की उपलब्धियों का एक दस्तावेज है। यह मनुष्य की सफलताओं- विफलताओं की कहानी तार्किक ढंग से एवं कालक्रमानुसार प्रस्तुत करता है। प्राक्-इतिहास और इतिहास से हमें मनुष्य के उत्थान पतन तथा उसकी उपलब्धियों की जानकारी मिलती है।

'इतिहास' शब्द इति+ह+आस के योग से बना है। जिसका अर्थ ऐसा हुआ था, ऐसा था, ऐसा ही हुआ का बोध कराता है। दूसरे शब्दों में अतीत की घटनाओं का लिखित विवरण इतिहास कहलाता है।

इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागों में बाँटा गया है - प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल। परन्तु मनुष्य इस धरती में इन इतिहास कालों से हजारों-लाखों वर्ष पूर्व से निवास कर रहा है। उस अवधि की घटनाओं को मनुष्य ने लिखकर नहीं रखा। क्योंकि वह लिखना-पढ़ना नहीं जानता था अथवा लिखने की परम्परा नहीं थी। अतः जिस युग की घटनाओं का कोई लिखित विवरण उपलब्ध नहीं होता है, उसे प्राक्-इतिहास काल या प्रागैतिहासिक काल कहा जाता है।

इस आधार पर इतिहास को चार भागों में बाँटा जा सकता है- प्राक् इतिहास काल, प्राचीन काल, मध्य काल और आधुनिक काल। पाश्चात्य इतिहास घटना प्रधान होता है। किन्तु भारत में सदा से ही इतिहास का अर्थ सभ्यता और संस्कृति को लिया गया है। झारखण्ड का इतिहास विश्व इतिहास या भारतीय इतिहास का अभिन्न अंग है। झारखण्ड का इतिहास यहाँ की भौगोलिक, सभ्यता-संस्कृति के अन्तर्गत आदिवासियों के राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं अन्य घटनाओं का इतिहास है। जो विभिन्न काल खण्डों की परिधि में पसरा हुआ है और इनका अध्ययन एवं प्रस्तुतिकरण ही 'झारखण्ड का इतिहास' है।

झारखण्ड का इतिहास लिखा नहीं गया है। झारखण्ड का यह भूखण्ड विश्व के प्राचीनतम भूखण्डों में से, सघन प्राकृतिक संसाधनों में से तथा सभ्यता-संस्कृति में से एक है। यहाँ तीस-बत्तीस आदिवासी (जनजातियाँ)

निवास करती हैं। इस भूखण्ड में मानव निवास का आरम्भ इन्हीं आदिवासी जनों से हुआ है। ऋग्वेद दर्शन (कृषिकाल) में आदिवासी सिन्धु घाटी में हड़प्पा, मोहन जो-दा-ड़ो, द्राविड़ सभ्यता-संस्कृति के निर्माता थे। इनकी आबादी सिन्धु-घाटी से दक्षिण भारत तक फैली हुई थी। जब सिन्धु घाटी आर्यों के अधिकार में आ गया था, तब इन जनजातियों ने पंजाब, कुरूक्षेत्र, उत्तर भारत, मध्यभारत होते हुए बिहार के झारखण्ड में अपना आधिपत्य कायम किया और इनका एक दल दक्षिण भारत की ओर गया। कालान्तर में पुनः यह दल दक्षिण भारत से झारखण्ड लौट आया।

झारखण्ड प्रदेश में उपर्युक्त इतिहास के कालखण्डों में क्रमशः उराँव और मुण्डा समुदाय के विभिन्न समुदायों का राजनीतिक-सांस्कृतिक अस्तित्व रहा है। इसके पश्चात मध्यकाल में गैर आदिवासियों का। जिसके अन्तर्गत नागवंशी, राजपूत, तेली, मुगल और इसके पश्चात् अंग्रेजों का साम्राज्य यहाँ स्थापित हुआ। आजाद भारत में झारखण्ड पुनः आदिवासियों के हाथ में आया। सन 2000 में आदिवासियों की स्मृति में नया झारखण्ड राज्य बना है, बिहार से अलग होकर।

मैंने अपने इस इतिहास में प्राप्त सामग्रियों तथा आदिवासियों की संस्कृति-सभ्यता में उपलब्ध तथ्यों व सूचनाओं के आधार पर 'झारखण्ड का इतितास' लिखने का यथा संभव प्रयास किया है। इससे झारखण्ड वासियों को अपने इतिहास की जानकारी में वृद्धि तो होगी ही, इतिहास के अध्ययन में संलग्न अध्येताओं और विद्यार्थियों को भी विशेष लाभ मिलेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। साथ ही इस पुस्तक से यहाँ के आदिवासियों को तथा समाज के अन्य समूहों व जातियों को समझने में सहायता मिल सकती है। क्योंकि झारखण्ड का इतिहास नव गठित झारखण्ड राज्य रूपी रंगमंच में उपस्थित है।

- सिकरा दास तिर्की

सोना लेकान दिसुम लिपि
कुकुरा रेञ् लेना नालिपि
रूपा लेकान गमाया लिपि
ढोंएसा रेञ चिनादा लिपि

पहला अध्याय

प्रागैतिहासिक जीवन

(प्राक्-इतिहास)

इतिहास मानव जाति की उपलब्धियों का लिखित विवरण है। यह मनुष्य की सफलताओं और विफलताओं की कहानी तार्किक ढंग से एवं कालक्रमानुसार प्रस्तुत करता है। प्राक् इतिहास और इतिहास से हमें मनुष्य के उत्थान-पतन एवं उसकी उपलब्धियों की जानकारी मिलती है।

प्राक्-इतिहास का तात्पर्य

मानव की प्रगति की कहानी के उस भाग को इतिहास कहते हैं, जिसके संबंध में हमें उसका लिखित विवरण मिलता है। लेकिन लिखना सीखने के पहले भी मानव इस पृथ्वी पर हजारों वर्ष रह चुका था। इस अवधि का कोई लिखित विवरण उपलब्ध नहीं है। क्योंकि मनुष्य लिखना नहीं जानता था। वह युग जब मनुष्य ने घटनाओं का कोई लिखित विवरण नहीं रखा और न लिखने की आवश्यकता थी, प्राक् इतिहास कहलाता है। इसे प्रागैतिहासिक काल भी कहा जाता है।

प्राक्-इतिहास के ज्ञान स्रोत

प्राक्-इतिहास या प्रागैतिहासिक काल के इतिहास की जानकारी के निम्नलिखित स्रोत हैं-

1. पुरातत्व 2. वास्तुकला 3. मानव विज्ञान 4. यात्रा-वृत्तांत।

झारखण्ड के प्राक्-इतिहास का तात्पर्य

किसी भी देश या प्रदेश का इतिहास प्रागैतिहासिक काल से उसकी प्रागैतिहासिक संस्कृति के गहन अध्ययन से आरम्भ करना चाहिए, यद्यपि यह निश्चय ही स्वीकार किया जाए कि समय के बड़े अन्तराल के कारण हमलोगों

का प्रागैतिहासिक मानव और संस्कृति का ज्ञान होना आवश्यक है जो भी थोड़ी बहुत हो।

इसी आधार पर प्राक् इतिहास युग में झारखण्ड प्रदेश का औद्योगिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक विस्तार वृहत् रूप में था। कालक्रम में इसका हिस्सा खंडित होते-होते अन्य राज्यों जैसे- बिहार, बंगाल, मध्यप्रदेश, ओड़िसा आदि का अंग बनता गया। अतः झारखण्ड का प्रागैतिहासिक काल का तात्पर्य वृहत् झारखण्ड प्रदेश के आदिवासी जीवन का ऐतिहासिक दर्शन से है बल्कि इसका पुनर्गठन से नहीं।

झारखण्ड भारत का 'हीराखण्ड' है। इस प्राचीनतम भूखण्ड को धरती माता ने प्राकृतिक प्रकोपों से सुरक्षित, मानवानुकुल एवं सभी प्रकार के खाद्य पदार्थों, वन-पर्वतों, नदी-नालों, पेड़ पौधों फल-फूलों, पशु-पक्षियों, खान-खनिजों आदि से सजा कर रखा है और इसका शृंगार किया है। इसी झारखण्ड की धरती को प्राक्-इतिहास युग में आदिवासियों को ईश्वर ने वरदान स्वरूप उपलब्ध कराया था। इस झारखण्ड अर्थात् अखण्ड वनखण्ड की भूमि में आदिवासियों ने गाँव बसाया। आज इसी झारखण्ड के जातियों को झारखण्ड राज्य चलाने का पूर्ण अधिकार मिला है बिहार से अलग होकर। इन आदिवासियों या यहीं के निवासियों के बारे में सही-सही जानकारी लेकर कालक्रम के अनुसार लिखित विवरण प्रस्तुत करना ही झारखण्ड का इतिहास का प्रयोजन है।

झारखण्ड का प्राक्-इतिहास इसी आदिवासी युग से प्रारम्भ होता है। स्वर्ग-सा इस वनखण्ड में इनके आने की लोककथाएं प्रचलित हैं। अतः झारखण्ड का प्रथम निवासी आदिवासी है। इसका प्रमाण इनकी संस्कृति, उनका लोक साहित्य या इतिहास है।

आदिवासियों का पर्व 'करम' की लोक कथा में मुख्य रूप से करमा और धरमा दो भाई थे। बड़े भाई करमा को धनार्जन के लिए वनवास या परदेश जाना पड़ा था। करमा की सेवा में छोटा भाई धरमा भी साथ में गया। दोनों जब धनार्जन कर करम पर्व के उपलक्ष में स्वदेश लौट रहे थे, तब वे अपने गाँव की सीमा के रास्ते में भादो का कादो (कीचड़) में फंस गए। तब करमा अपने छोटे भाई धरमा को धनादि की सुरक्षा सौंपकर गाँव की ओर बढ़ा। गाँव-घर में बन्धुगण करम पर्व का धरम के उल्लास में या करम राजा

की सेवा में लीन थे। इस खुशी को करमा के आगमन ने दुगुणा कर दिया। परन्तु करमा को यह अहसास नहीं हो सका, क्योंकि परिस्थितिवश उसका दिलो-दिमाग असंतुलित हो गया था। उसने अपने छोटे भाइयों को करम-धरम का शासन में डूबे हुए देख कर अखड़ा में गाड़ी गई करमवृक्ष की डालियों को उखाड़कर फेंक दिया। जिस कारण गाँव घर में शोर मच गया। इसकी आहट मिलने पर धरमा को चिंता हो गई कि बड़े भाई किसी मुसीबत में पड़ गए होंगे। उसने भी धनादि वहीं छोड़कर गाँव का यत्र किया। पहुँचने पर बड़े भाई करमा के द्वारा करमराजा का अपमान देखकर धरमा को भी बड़ा दुख हुआ। उसने करम राजा की सेवा कर अपने बड़े भाई के लिए करमदेव से क्षमा याचना की। परन्तु करमदेव उसकी परीक्षा लिए बिना उसे क्षमा कैसे कर देते। दूसरी ओर उधर पड़ाव में छोड़ दिए गए धनादि की भी चोरी हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों भाइयों में भी अनबन हो गयी। करमा धरमा को छोड़कर अकेले जीवन यापन करने लगा। दिनों दिन करमा की कृषि एवं सारी सम्पति नष्ट होने लगी। वहीं छोटे भाई धरमा ने अपना कृषि काम में बड़े भाई करमा को भी नहीं छोड़ा। जिससे उसकी वृद्धि पूर्व से भी अधिक होने लगी।

एक दिन करमा गुस्से से धरमा द्वारा रोपे गए धान के पौधे को उखाड़ कर फेंकने लगा। उसने देखा कि फेंके गए पौधे अपने आप खड़े हो जा रहे थे। यह दृश्य देखकर करमा ने इसका कारण जानने की कोशिश की। जानकारी हो जाने के बाद वह करम राजा की खोज में निकल पड़ा। देश-परदेश करम राजा की खोज में करमा को कई परीक्षाओं से गुजरना पड़ा। सर्वप्रथम रास्ते में करमा को प्यास लगी। वह इन्द्र-पोखरा के पास गया। जब पीने के लिए उसने पानी हाथ में उठाया तब देखा की पानी में कीड़े भरे हुए हैं। पानी नहीं पीकर वह आगे बढ़ गया। जाते-जाते एक गाँव में करमा को एक गाय और बछड़ा दिखाई दिए। उसने उस गाय बछड़ा के मालिक को सारा वृतांत सुना दिया। उसको दया आ गई और जब उसने करमा को दूध देने के लिए बछड़ा को गाय के पास लाया तब गाय भाग गई। इस तरह से करमा को गाय का दूध भी नहीं मिल सका। हैरान होकर हे करम राजा! कह कर करमा आगे बढ़ने लगा कि गाय वाले ने करमा से कहा- 'तुमको करम राजा मिले तो मेरा भी यह वृतांत बताकर गुण-दोष पूछते आना। क्योंकि इस प्रकार की घटना क्यों घटी। गाय पकड़ते हैं तो .... बछड़ा ... और

.....गाय। फिर करमा हे! करमा राजा! नाम जप कर आगे बढ़ा। जाते-जाते रास्ते के जंगल में उसे डुमर के फल मिले। उसने खाने के लिए तोड़ा तो उसमें भी कीड़े भरे हुए थे। उसने आँख मूँदकर डुमर खा लिया। फिर आगे बढ़ते बढ़ते आम मिला, आम बड़ा मीठा था, उसमें भी कीड़े भरे हुए थे। पुनः जाते-जाते एक गाँव में चूड़ा बनाते ढेंकी की आवाज सुनाई दी। करमा ने उसके पास जाकर अपना वृतांत कह सुनाया। उसे भी दया आ गई कि करमा को खाने के लिए कुछ चूड़ा दे देनी चाहिए। जब चूड़ा देने के लिए वह उठी तो वो भी पीढ़ा में लटक गई और उठ नहीं सकी। जिसके कारण करमा को चूड़ा नहीं मिल सका। हे! करम राजा कह कर जैसे ही करमा आगे बढ़ने लगा कि चूड़ेवाली ने भी इस वृत्तांत को बताकर मेरा गुण-दोष पूछकर आने का आग्रह किया। अंत में जाते-जाते रास्ते में समुद्र के किनारे एक मगर मिला। करमा ने उसे भी वृत्तांत सुनाया और समुद्र पार ले जाने की याचना की। मगर ने भी करमा को समुद्र पार करने का वादा किया। परन्तु उसने भी करमा से कहा कि मेरी पीठ में जामुन का पेड़ क्यों है? करम राजा से इसका गुण दोष पूछते आना। फल-फूल खाते हुए करमा को करम राजा की खोज में अनेकों मुसिबतों को झेलना पड़ा। अंत में उसे सात समुद्र के पार करम राजा या करम देव का दर्शन हुआ। करमा की भक्ति देखकर करमदेव प्रसन्न होकर प्रगट हुए कि एक दिन उसका उबाला धान अंकुरित हो गया। करमा ने भक्ति से करमदेव की सेवा की। करम राजा ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा कि- हे वत्स! तुम जहाँ भी जाओगे, तुम मुझे पाओगे। यह कहकर ब्रह्मारूप करमदेव करम पेड़ के खोह में अन्तरलिप्त होते हुए दिखाई पड़े। करमा का अहंकार एवं दुःख दूर हो गया। वह धनवान हो गया और खुशी-खुशी स्वदेश लौट गया। इस प्रकार करमा, करम राजा के उपदेशों का विधिपूर्वक पालन परम्परानुसार करते हुए अमन-चैन से रहने लगा।

करम कथा के क्रम यह बात भी कही जाती है कि करमडाली की पूजा करमा-धरमा के पूर्वजों ने कृषि पूजा के साथ पुत्र प्राप्ति की आकांक्षा से की थी। करमा-धरमा के पूर्वज कृषक थे। उनके घर में अन्न-धन की कोई कमी नहीं थी, कमी थी पुत्र-पुत्रियों की। इस चिंतन-मनन में उनके पुरखों ने एक दिन सपना में देखा कि करमवृक्ष पुत्रदाता देववृक्ष हैं। सपना में बताए गए विधि -विधान से इसकी पूजा-अर्चना करो तो तुम्हें आवश्य ही संतान की

प्राप्ति होगी। तब से कृषि कर्म की पूजा के साथ करमदेव की भी पूजा करम धरम के रूप में शुरू की गई। बाद में उनको संतान की प्राप्ति हुई। परन्तु पुत्रों की प्राप्ति के बाद पुनः जनसंख्या में वृद्धि के साथ धन-दौलत में कमी हुई कि करमा को परदेश जाना पड़ा था।

जब करमा स्वदेश लौट रहा था तब गाय-बछड़ा वाले के पास गया। उसको यह बताया कि तुमने किसी दिन राजपरिवार को पूजा के लिए गाय का दूध नहीं दिया था। इस कारण तुम्हारे-हमारे बीच इस तरह की घटना घटी। फिर चुड़े वाली को भी बताया कि किसी दिन इस ओर से करम राजा गुजर रहे थे तुमने उसे दान स्वरूप चूड़ा नहीं दिया था। मगर से कहा कि तुम मनुष्य के रास्ते में काँटा डालते थे, जिस कारण तुम्हारी पीठ में जामुन का पेड़ निकला।

अतः झारखण्ड के आदिवासी प्रागैतिहासिक काल से झारखण्ड (भारत) में हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता से लेकर भारत के उत्तरी-पूर्वी क्षेत्रों एवं भारत-चीन-तिब्बत के सीमावर्ती इलाकों में ये फैले हुए थे। मुण्डा आदि जनजातियों की आबादी भारत के उत्तरी पूर्वी भू-भाग, चीन-तिब्बत की सीमावर्ती क्षेत्रों, हिमालय की तराई एवं सिन्धु घाटी तक फैली हुई थी। उराँव जाति की जनसंख्या सिन्धुघाटी सभ्यता, हिमालय की तराई तथा भारत के उत्तरी-पूर्वी भागों में मुण्डाओं तक थी। क्योंकि उराँव, मुण्डा, हो, खड़िया, असुर, लोहरा आदि जनजातियाँ एक ही वंश के हैं। ये जनजातियाँ आदि द्राविड़ या प्राक् द्राविड़ (Pre-Dravidian) अथवा प्रोटोआस्ट्रोलाइड (Proto & australoid) प्रजाति के हैं। प्रारम्भ में इनकी एक जाति, समाज, संस्कृति, धर्म, राजनीति थी और अलग-अलग काम। उपर्युक्त जातियों का नामकरण कालान्तर में उनके काम और पद आदि के अनुसार हुआ है। इन नामों के पहले गोत्र ही उनकी जाति थी और वही नाम एवं वर्ण। उस काल में ये द्राविड़ कहलाते थे बाद में ये असुर राक्षस आदि कहे गए। आज ये आदिवासी, जनजाति कहलाते हैं।

दिन रात कोड़कर खेती के लिए खेत बनाना और खेती करने वाले उराँव हैं। मिट्टी कोड़कर भट्ठे में लोहे का निर्माण करने वाले असुर और कृषि-शिकार आदि के लिए लोहे या पत्थरों का औजार बनाने वाला लोहरा कहलाए। कृषि उद्योगों के साथ ही साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक

व्यवस्था में गाँव का संचालन करने वाला एक व्यक्ति मूल या मुण्डा, एक गोत्र के कई गाँवों को मिलाकर एक पड़हा का पड़हा राजा, कई पड़हा को मिला कर एक महापड़हा मंडल (बाईस पड़हा, पाँच पड़हा राजा आदि) का प्रधान महाराजा, धर्मेश राजा या सिंङबोंगा राजा, इससे ऊपर एक संसार का सर्वोच्च धर्मेश या सिंङबोंगा (ईश्वर) थे। इसी आधार पर इनकी (आदिवासियों की) भाषा द्राविड़ थी। "इस परिवार की भाषाओं के बोलने वाले आज कल दक्षिण भारत में निवास करते हैं। विद्वानों का मत है कि आर्यों के आगमन से पूर्व ये लोग सिन्धु तथा पंजाब के भू-भाग में फैले हुए थे। और मोहिंजादड़ो एवं हड़प्पा की सभ्यताओं के यही जनक थे।" (भोजपुरी भाषा और साहित्य, डॉ. उदय नारायण तिवारी पृ. 4)

"तत्त्वतः भारत में आदि भूमि (आर्यों का) होने की संभावना बिल्कुल नहीं है। इसके लिए मोटे ढंग से चार-पाँच बातें कही जा सकती है।

(क) इस परिवार (भारोपीय) की अधिकांश भाषाएँ यूरोपीय और एशिया के संधि-स्थल पर या यूरोप में हैं, भारत के आस-पास नहीं हैं। ऐसी स्थिति में भारत से बाहर जाकर उनके इस रूप में बसने की संभावना कम है। यह संभावना अधिक है कि उधर से एक शाखा आई और उसी के लोग भारत के उत्तरी भाग में बस गए। शेष लोग वहीं आस-पास रह गये।

(ख) यदि भारत मूल स्थान रहता तो पूरे भारत में (दक्षिण में भी) यह परिवार मिलता। उत्तर (भारत) में ब्राहुई तथा दक्षिण में तमिल, तेलगु आदि का होना इसके विरोध में जाता है।

(ग) मोहनजोदाड़ो का काल ऋग्वेद पूर्व का है। यदि उसकी भाषा, संस्कृति या उससे मिलती जुलती होती तो भारत में मूल स्थान होने को बल मिलता, किन्तु वहाँ की भाषा प्रायः द्राविड़ परिवार की मानी जाती है। अतः यह संभावना है कि यहाँ पहले द्राविड़ ही रहा करते थे और आर्य पश्चिम या पश्चिमोत्तर से आए।" (भाषा विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ-108)

भाषाओं के पारिवारिक वर्गीकरण का अर्थ विश्व की भाषाओं को परिवार में बाँटना। जैसे एक माता-पिता से उत्पन्न व्यक्ति एक परिवार के कहे जाते हैं उसी प्रकार एक भाषा से निकाली भाषाएं और बोलियाँ भी एक परिवार की कहलाती हैं। यह ज्ञात करने के लिए कि कौन-कौन सी भाषाएं और बोलियाँ भी एक परिवार की हैं दो बातें ध्यान देते हैं (क) भाषिक

समानता (ख) स्थानीय समीपता (ग) ध्वनि की समानता, (घ) वाक्य रचना की समानता (ङ) अर्थ की समानता।" (भाषा विज्ञान भोला नाथ तिवारी पृ. 86)

इसी आधार पर झारखण्ड के आदिवासियों की भाषा एक भाषा परिवार में सम्मिलित थीं। क्योंकि झारखण्ड में उराँव और मुण्डा, हो, खड़िया आदि जनजातियाँ एक समान भू-भाग में रहते आये हैं और रह रहे हैं। द्राविड़ भाषा कुड़ुख और आग्नेय भाषा मुण्डारी आदि में उपर्युक्त सभी तथ्य मौजूद हैं। आज आदिवासी कहने से उपर्युक्त सभी जनजाति आ जाते हैं। किसी समय ये सभी द्राविड़ कहलाते थे। उसी आधार पर उनकी भाषा भी द्राविड़ परिवार थी। मुंडारी लोक कथा एवं अन्य ग्रंथों में भी इसकी चर्चा की गई है। ग्रियर्सन ने भारत की भाषाओं का इसी आधार पर सर्वेक्षण किया था।

"19वीं शताब्दी के आधुनिक काल में सन् 1854 ई. में मैक्समूलर ने द्राविड़ से कोल को पृथक वर्ग प्रदान कर उसका 'मुण्डा' नामकरण किया। इसके दो वर्ष बाद एक 'कंपरेटिव ग्रामर ऑफ द्रविड़ियन ऑफ द साउथ इण्डियन फैमिली ऑफ द लैंग्वेजेज़' प्रकाशित कर कॉल्डवेज ने मुण्डा को विख्यात किया।"

तब से झारखण्ड के आदिवासी दो भाषा समुदाय एवं मूल जाति में बँट गई। आदि द्राविड़ भाषा परिवार की भाषा ऊराँव जाति की रही और इससे अलग होकर मुण्डा जाति एवं उनकी भाषा ने स्वतंत्र मुण्डारी मूल भाषा आग्नेय परिवार का निर्माण किया। यही कारण है वर्त्तमान उराँव और मुण्डा जाति की भाषा में निकटतम का संबंध है। घर के सभी सामानों के नाम, व्यक्तियों के नाम, पर्व-त्योहार, रीति-रिवाजों के नाम, देवी-देवताओं के नाम आदि। जाति के दृष्टिकोण से ये भले अलग-अलग हैं पर धर्म के रूप में आज भी इन सबकी एकता बरकरार है। प्राचीनता में कोई भेद नहीं। इसके अतिरिक्त कुड़ुख और मुण्डारी भाषा में पचास प्रतिशत से अधिक समानताएं हैं। वर्त्तनी में भले भिन्नता आई हो परन्तु उच्चारण एवं अर्थ में दोनों एक ही हैं। उदाहरणस्वरूप शब्दों की कमी नहीं है। इनमें जितनी भिन्नताएँ मानी जा रही हैं, उतनी ही अभिन्नता भी है। इस पर शोध की आवश्यकता है ही नहीं। इन्हें मौलिक रूप से देखने से ही स्पष्ट हो जा सकता है। आग्नेय भाषा परिवार के अन्तर्गत मुण्डारी हो, संताली, खड़िया आदि हैं जो यहाँ एक बड़े जन समुदाय द्वारा बोली जाती है। आग्नेय का शाब्दिक अर्थ अग्नि के समान

था। वह वृक्ष एक सुखआ पेड़ और एक करम पेड़ (देववृक्ष) मिलकर एक ही धड़ का एक विशाल वृक्ष था। धड़ को देखने से नहीं लगता था कि वह दो पेड़ का संगम है। ऊपर की ओर सखुआ के पूरे हिस्से को एक डाली एवं करम के सम्पूर्ण भाग को दूसरी डाली, मिलकर 'दो', एक पेड़ की दो डालियाँ थी। शाल वृक्ष में फल लगने वाली डाली के भाग से ओंद = एक, मोद/मोंओद/मोःन = एक, जो = फल, डाड़ा = डाली, दाड़ा या दाड़ो = डाली हुआ। दूसरी डाली करम की थी। यह फल नहीं लगने वाली डाली थी। इस लिए इसे देववृक्ष या परिजात वृक्ष भी कहा जाता है। इसी सखुआ पेड़ और करम पेड़ की दो डाली मान कर साल वृक्ष में फल लगने के कारण अलग नाम, 'एक ही डाली में फल लगने वाली डाली' रखा गया था। दूसरी डाली करम की थी इसमें फल लगते भी हैं तो मनुष्य के दैनिक जीवन में इसका कोई उपयोगिता नहीं है। इसलिए वह फल नहीं लगने वाली डाली थी। करम की डाली की पूजा करमदेव के रूप में करने से समस्त सृष्टि, मनुष्य तथा उसकी कृषि की श्रीवृद्धि होती है। सृष्टिकर्त्ता प्रसन्न होते हैं। मानव जीवन में सभी फल प्राप्त होते हैं एंव संतान की प्राप्ति होती है। इस विशाल वृक्ष के नीचे उराँव-मुण्डा आदि जनजातियाँ कर्मकाण्ड पूजा अनुष्ठान करते थे। इसके अलावे सरहुल में साखू फूल पत्तों की तथा करम पर्व में करम डाली की पूजा करते थे। करम डाली नर और सखुआ नारी का प्रतीक भी है।

इस प्रकार का एक विशाल आम का पेड़ मैंने खूँटी प्रखण्ड के हेसाहातु ग्राम पंचायत के गाँव- भण्डरा के दक्षिण में और हेसाडीह पिड़ी (पीपल डीह टाँड़) नामक जगह में देखा है। परन्तु वहाँ मैंने गाँव-घर नहीं देखा था, पर घर होने का प्रमाण दिखाई देता था। उस जगह को हम सब आम टाँड़ भी कहते हैं। क्योंकि वहाँ एक विशाल आम का पेड़ था। इसके अगल-बगल में और भी आम व जामुन के पेड़ थे। वह आम का पेड़ दो आम पेड़ के संगम से एकाकार होकर एक पेड़ हो गया था। इस पेड़ पर मैं बहुत बार चढ़ा पर ऐसा नहीं लगता था कि वह दो आम पेड़ों का संगम है। अन्तर का पता मात्र फलों से लगाया जाता था। एक ओर बहुत गुच्छेदार फल लगते थे और उसका फल खट्टा हुआ करता था। दूसरी ओर कम फल लगते थे और कच्चे में ही मीठा होता था तथा पकने के पहले ही वह खत्म भी हो जाता था। अब इस पेड़ को खेत मालिकों ने बेच दिया है।

अतः सिन्धु घाटी और हड़प्पा मोहन-जो-दाड़ा से उराँव, मुण्डा जैसे आदिवासियों का आगमन वर्त्तमान पंजाब के कुरूक्षेत्र, उत्तर प्रदेश, उत्तर-मध्य भारत तक था एवं दक्षिण भारत में भी इनकी जड़ें जमी थीं। मध्य भारत में सुर-असुर, दक्षिण भारत में राम-रावण दो पक्ष में बँट गए थे। यहाँ इन दोनों में भाई-भाई के अन्याय में न्याय की लड़ाई थी। अंत में ईश्वर ने इन आदिवासियों को धरती माता की कोंख से निकली सम्पूर्ण प्राकृतिक सम्पदा से परिपूर्ण झारखण्ड की धरती में लाकर बसा दिया। जो आज के आदिवासी या अनुसूचित जनजाति हैं। इन्होंने यहाँ भी एड़प्पा, मोएहोन-जो-दाड़ा (हड़प्पा, मोहनजोदाड़ो) द्राविड़ सभ्यता-संस्कृति की स्थापना की थी। गिति ओड़आ और धुमकुड़िया इसके प्रमाण हैं। कालक्रम में इनकी जनसंख्या में वृद्धि होने के साथ-साथ ये कई पेशेवर जाति और समुदायों में बँट गए। फिर भी ये आदिवासी मूलतः राजनीतिक और धार्मिक दृष्टिकोण से एक ही बने रहे और अब भी इनकी एक संगठनात्मक व्यवस्था कायम है। उराँव क्षेत्र विशेष में प्रत्येक जनजाति की अपने-अपने सांस्कृतिक संस्थान एवं राजनीतिक क्षेत्र नहीं हैं। उसी प्रकार मुण्डा क्षेत्र में भी उराँव, मुण्डा आदि सभी एक ही मुण्डा संगठनात्मक व्यवस्था में ही हैं। प्रागैतिहासिक काल में इनकी यह एकता और सुदृढ़ थी। इनकी इस संगठनात्मक एकता को 'आदिवासी युग' कहना अधिक उपयुक्त होगा।

"भारत देश का यह सुरम्य भूखण्ड,
जो है हमारा नूतन प्रदेश झारखण्ड।
प्रकृति के परमाश्रम में उदित जनजातीय संस्कृतिक का मार्तंड
ऋषि सदृश होते थे आदिम जन, नहीं उनमें कोई पाखंड।
प्रकृति वन प्रांत में रचे बसे ये सरल मानव दल,
जल, जमीन, जंगल जिनका एक मात्र संबल।

हमारा झारखण्ड जन-जातियों की भूमि, जहाँ,
निवास करते उराँव, मुण्डा, हो, बिरहोर, खड़िया,
खरवार, असुर एवं संताल, मूर्म, किस्कु हेम्ब्रोम,
सोरेन, टुडु, मरांडी जिनके विभिन्न नाम।

सेवा सुरभी (पत्रिका), पृ. 19

इस काल में आदिवासी अपने प्रतिनिधियों का चुनाव तीन या पाँच वर्ष के लिए लोकतांत्रिक जादुई ढंग से प्रत्यक्ष करते थे। इनके सामाजिक - सांस्कृतिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में कोई भी पद वंशानुगत नहीं था। तभी तो एक पद विशेष, कर्म विशेष के जन समुदाय में वृद्धि होती गई और कालान्तर में इसने एक अलग जाति और समुदाय का रूप ले लिया।

झारखण्ड में उराँव, मुण्डा आदि जनजातियों के कई दल चारों दिशाओं से यहाँ भिन्न-भिन्न समय में आए थे। पहला दल सिन्धुघाटी सभ्यता, उत्तर-मध्य भारत, बिहार के गंगा-यमुना के मैदान से रोहतास होते हुए मध्य झारखण्ड में फैल गया। पुनः एक दल रोहतास से महाराष्ट्र होते हुए दक्षिण भारत में गया। पुनः इस दल ने दक्षिण-पश्चिम और पूरब से वापस झारखण्ड में प्रवेश किया था। इन्होंने यहाँ जंगल-झाड़ साफ करके खेत के लिएं खेत बनाए और गाँव बसाए। इस क्रम में इसकी दो पद्धति थी। एक समूह लोहे तथा पत्थर आदि के औजार तैयार करती थी और एक दल उन औजारों के माध्यम से जंगल-झाड़ साफ करते तथा अपने जीवन की रक्षा भी करते थे। इनकी एक सुदृढ़ राजनीतिक, सांस्कृतिक व्यवस्था भी थी। इनकी बढ़ती आबादी के साथ-साथ गाँव एवं जगह-जमीन का बँटवारा हुआ। बँटवारे के समय ये वन में किनारे-किनारे या सीमान पर कचरा व छोटे सखुए के पेड़ों को काट कर सीमा को चिन्हित किया करते थे। मैदानी या नदी-नाले के क्षेत्रों में पत्थर रखकर या गाड़कर घेरा करते थे। उस घेरे के अन्दर की सम्पूर्ण जमीन, जंगल, और जल एक गाँव की कुल जनसंख्या के एक समान अधिकार में होता था और अब भी है। जिसकी देख-रेख धर्म के आधार पर पाहन करता था। यहाँ पर जो व्यक्ति चाहे जितना भी कोड़कर खेत बना लेता था, उस खेत पर उस व्यक्ति विशेष का निजी अधिकार बनता था। इसे ही भुंइयारी खूँटकटी भी कहते हैं। अतः एक व्यक्ति द्वारा बनाए गए खेत सार्वजानिक अधिकर से मुक्त होते थे। उसका उत्तराधिकारी उस व्यक्ति के पुत्र हुआ करते थे। इसी भाँति सभी गाँव में जमीन वितरण की व्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त बाकी जंगल, जमीन, जल, जंगल उस एक गाँव के सारे लोगों की थी और अब भी है।

ऊपर बताया गया है कि इसका एक मालिक धर्म (संस्कृति) या पहान होता रहा है। पहान की नियुक्ति होती थी। इस पद के लिए वेतन के

रूप में 'पहनइ खेत' शुरू में गाँव वाले सामूहिक रूप से सार्वजानिक जमीन में खेत तैयार कर उसे सौंप दिया करते थे। इस खेत को 'पहनइ खेत', 'डालीकतारी', 'भूतखेत' आदि नामों से जाना जाता रहा है। इसका स्थानांतरण सरना पूजा में कार्यरत पुजारी पहान को कर दिया जाता है। इसके पदयुक्त होने के बाद आदिवासी सरना धर्म या संस्कृति का अधिकार है। आदि काल में पड़हा राजा जिस व्यक्ति को पहान नियुक्त करता था उसे ही यह (पहनइ) खेत मिलता था।

अब पहान की नियुक्ति प्रक्रिया समाप्तप्रायः होकर वंशानुक्रम हो गई है। फिर भी इस खेत का पहान परिवार के भाईयों में बँटवारा नहीं होता है। यही कारण है कि उस परिवार का सबसे बड़ा सदस्य ही पाहन का दायित्व निभाता है और उसी सदस्य का कुल जमीन पर हक बनता है। इस आदिवासी परम्परा में किसी भी गाँव में बाद में प्रवेश करने वालों को बसाने की पूर्ण स्वतंत्र जिम्मेदारी उनके धर्म या उनकी संस्कृति थी। इसमें पहान की भूमिका होती थी। बाद में जब पहान की जिम्मेदारी में वृद्धि हुई तब मुण्डा या महतो जैसे पदों को व्यवस्था में जिम्मेदारी सौंपी गई। मुण्डा क्षेत्र में मुण्डा और उराँव महतो की भी नियुक्ति प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति से की जाती थी।

इस पद के लिए भी वेतन के रूप सार्वजनिक तैयार खेत दिए जाते थे। जिसे "मुण्डाई खेत" कहते हैं। वर्त्तमान समय में इसकी भी नियुक्ति प्रक्रिया बंद होकर अब यह वंशानुक्रम चलने लगा है। भविष्य में क्या होगा, समाज जिम्मेदार है। राजा पद के लिए भी राज्य को सामूहिक तैयार जमीन मिलती थी जिसे राजांश या माझीहास आदि कहा जाता है। इसके अलावे पड़हा राजा, पहान-मुण्डा, राज्य आदि के सहायक पद जैसे- कोटवार, पाइनभोरा आदि होते थे। उसमें कार्यरत लोगों को भी वेतन के रूप में खेत मिलते थे। इसके अतिरिक्त जल, जंगल, परती जमीन पर एक गाँव के सभी लोगों का एक समान हिस्सा रहता है। जो ग्राम प्रधान, पहान, मुण्डा, महतो, राजा, मानकी के निगरानी में है। इस भाँति आदिवासी युग में उनके रीति-रिवाज या उनकी संस्कृति ही उनके राज्य का नियम-कानून था। यही उनका न्यायालय और उच्च न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय था। अतः आदिवासी काल में इसके बीच कई पद हुआ करते थे जो नियुक्ति प्रक्रिया पर आधारित थे। जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है।

आदिवासियों की इसी भू-व्यवस्था के आधार पर ही मध्यकाल व मुगल काल में मुगलों ने और अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजों ने आदिम जनजातियों के दखलदानी जमीनों का सर्वे कर लिखित दखलनामा प्रदान किया। उनके प्रत्येक प्लाट में एक निश्चित लगान बाँध दिया गया। जंगल, जल, जमीन, गैरमंजुरुवा (जो जमीन किसी के नाम से मंजूर नहीं है) के नाम से दर्ज कर दिया गया। इस काल में ऐसी जमीनों की निगरानी राजा-जमीनदार किया करते थे। वर्त्तमान समय में (सरकारीकरण काल में) गैर मंजूरूवा जमीनें सरकार की है। यह भी आदिवासी शासन प्रणाली के आधार पर है। झारखण्ड के किसी भी गाँव की गैरमंजुरुवा या परती अथवा पड़ाती (= पड़हा + ती = हाथ या पड़हा का अधिकार से परती हुआ) जमीन सरकार के नाम से है। फिर भी किसी भी गाँव की ऐसी जमीन पर उसी गाँव के जनता का ही सर्वाधिक हक होता है।

इसी तरह एक पड़हा पट्टी नाम से एक वृहत् क्षेत्र का बोध होता है। परन्तु कोई गाँव की परती जमीन वृहत् प्रड़हा पट्टी के हक से मुक्त होकर उसी एक गाँव के लोगों तक ही सीमित रहती है। 'परती' नाम पड़हा शब्द का अपभ्रंश है। आदिवासी युग के बाद, नागवंशी और मुगल तथा अंग्रेजी शासन काल में भी झारखण्ड के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रवास आवागमन में स्वतंत्रता थी। किन्तु इस युग में राजा, जमींदार, ठीकेदार आदि के द्वारा भू-व्यवस्था की जाती थी। जबकि वर्त्तमान काल में गैर मंजूरूवा जमीनों का वितरण या बन्दोबस्ती उसी गाँव के भूमिहीनों के बीच सरकार कर रही है। आदिवासी युग में इसे ग्राम सभा के ग्राम प्रधान करते थे।

अतः झारखण्ड में कदम रखने तक आदिवासी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जैसे तथ्यों से परिचित नहीं थे, ऐसी बात नहीं है। परन्तु यहाँ आने पर इन्हें आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि का व्यवस्थाओं का पुनर्विकास करने में समय लगा था। इस विकास के पूर्व वे वनवासी स्वरूप फल-फूल, कन्द-मूल एवं शिकार कर जीवन निर्वाह किया करते थे। खेती में विकास के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था भी स्थापित होते चली गई। जो अब तक वर्त्तमान है। इसी समाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक जीवन यापन करने आदिवासी जनजाति को ही आदिवासी कहा गया है। आदि का अर्थ पहले और वासी का अर्थ बसने वाला है।

संभवतः आदिवासी युग में झारखण्ड प्रदेश में आदिवासियों का साम्राज्य था। यहाँ सभी जाति के लोग इस शासन पद्धति के पदाधिकारी हुआ करते थे। अतः यहाँ इनका आगमन भी एक साथ हुआ। ये जनजातियाँ, जहाँ भी गए और रहे साथ-साथ रहे। तभी तो लिखा गया है कि "संभवतः अति पूर्व काल में मुण्डा-उराँव और हो- ये तीन श्रेणियाँ एकत्रित थी और एक परिवार की तरह रहती थी" ... मालूम पड़ता है छोटानागपुर में कोलों को संस्कृत 'मुण्डा' नाम ग्रहण करने से पहले 'हो' लोग पृथक हो गए थे।" (बाँसुरी बज है, जगदीश त्रिगुणयत पृ. 06)

उपर्युक्त आदिवासी काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है - 1. प्रागैतिहासिक काल और 2. प्राचीन काल (इतिहास युग)।

1. प्रागैतिहासिक काल

पहले लिखा गया है कि प्रागैतिहासिक काल का तात्पर्य, इतिहास युग के पहले या जिसका कोई इतिहास नहीं लिखा गया हो अथवा जिस अवधि का कोई लिखित विवरण नहीं है, से है। अतः प्रागैतिहासिक पुरातन झारखण्ड की धरती और यहाँ के सर्वप्रथम आदिम निवासी आदिवासी हैं। जिन्होंने अपनी सभ्यता-संस्कृति, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था से इस धरती पर सामंजस्य स्थापित किया और इसे मनोरम बना कर रखा है। जो आज एक अवशेष नहीं है बल्कि यह संसार और समस्त मानव समुदाय के लिए उपयोगी साबित हो रहा है। जिसमें प्राक् इतिहास के ज्ञान के स्रोत- पुरातत्त्व, वास्तुकला, मानव-विज्ञान और यात्रा वृत्तांत निहित हैं। क्योंकि मनुष्य लिखना नहीं जानता था। वह युग जब मनुष्य घटनाओं का कोई लिखित विवरण नहीं रखता था "प्राक् इतिहास युग" कहलाता है। इसी को प्रागैतिहासिक काल भी कहते हैं। अतः प्राक् इतिहास का तात्पर्य प्राचीन काल के (पहली शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी तक) से पूर्व वृहत् अवधि से है।

इस काल में झारखण्ड का अभिप्राय एक समान वनस्पतियों एवं यहाँ के आदिवासियों के निवास क्षेत्रों वाले वृहत् भूखण्ड से है। जिसमें रोहतास, नंदनगढ़, पिपरगढ़, हरदीनगर, आजमगढ़, ओड़िसा, बिहार, मध्यप्रदेश, प.

आदिवासियों की इसी भू-व्यवस्था के आधार पर ही मध्यकाल व मुगल काल में मुगलों ने और अंग्रेजी शासनकाल में अंग्रेजों ने आदिम जनजातियों के दखलदानी जमीनों का सर्वे कर लिखित दखलनामा प्रदान किया। उनके प्रत्येक प्लाट में एक निश्चित लगान बाँध दिया गया। जंगल, जल, जमीन, गैरमंजुरुवा (जो जमीन किसी के नाम से मंजूर नहीं है) के नाम से दर्ज कर दिया गया। इस काल में ऐसी जमीनों की निगरानी राजा-जमीनदार किया करते थे। वर्त्तमान समय में (सरकारीकरण काल में) गैर मंजूरूवा जमीनें सरकार की है। यह भी आदिवासी शासन प्रणाली के आधार पर है। झारखण्ड के किसी भी गाँव की गैरमंजुरुवा या परती अथवा पड़ाती (= पड़हा + ती = हाथ या पड़हा का अधिकार से परती हुआ) जमीन सरकार के नाम से है। फिर भी किसी भी गाँव की ऐसी जमीन पर उसी गाँव के जनता का ही सर्वाधिक हक होता है।

इसी तरह एक पड़हा पट्टी नाम से एक वृहत् क्षेत्र का बोध होता है। परन्तु कोई गाँव की परती जमीन वृहत् पड़हा पट्टी के हक से मुक्त होकर उसी एक गाँव के लोगों तक ही सीमित रहती है। 'परती' नाम पड़हा शब्द का अपभ्रंश है। आदिवासी युग के बाद, नागवंशी और मुगल तथा अंग्रेजी शासन काल में भी झारखण्ड के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में प्रवास आवागमन में स्वतंत्रता थी। किन्तु इस युग में राजा, जमींदार, ठीकेदार आदि के द्वारा भू-व्यवस्था की जाती थी। जबकि वर्त्तमान काल में गैर मंजूरूवा जमीनों का वितरण या बन्दोबस्ती उसी गाँव के भूमिहीनों के बीच सरकार कर रही है। आदिवासी युग में इसे ग्राम सभा के ग्राम प्रधान करते थे।

अतः झारखण्ड में कदम रखने तक आदिवासी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जैसे तथ्यों से परिचित नहीं थे, ऐसी बात नहीं है। परन्तु यहाँ आने पर इन्हें आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि का व्यवस्थाओं का पुनर्विकास करने में समय लगा था। इस विकास के पूर्व वे वनवासी स्वरूप फल-फूल, कन्द-मूल एवं शिकार कर जीवन निर्वाह किया करते थे। खेती में विकास के साथ-साथ सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवस्था भी स्थापित होते चली गई। जो अब तक वर्त्तमान है। इसी समाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक जीवन यापन करने आदिवासी जनजाति को ही आदिवासी कहा गया है। आदि का अर्थ पहले और वासी का अर्थ बसने वाला है।

संभवतः आदिवासी युग में झारखण्ड प्रदेश में आदिवासियों का साम्राज्य था। यहाँ सभी जाति के लोग इस शासन पद्धति के पदाधिकारी हुआ करते थे। अतः यहाँ इनका आगमन भी एक साथ हुआ। ये जनजातियाँ, जहाँ भी गए और रहे साथ-साथ रहे। तभी तो लिखा गया है कि "संभवतः अति पूर्व काल में मुण्डा-उराँव और हो- ये तीन श्रेणियाँ एकत्रित थी और एक परिवार की तरह रहती थी" ... मालूम पड़ता है छोटानागपुर में कोलों को संस्कृत 'मुण्डा' नाम ग्रहण करने से पहले 'हो' लोग पृथक हो गए थे।" (बाँसुरी बज है, जगदीश त्रिगुणयत पृ. 06)

उपर्युक्त आदिवासी काल को दो भागों में बाँटा जा सकता है - 1. प्रागैतिहासिक काल और 2. प्राचीन काल (इतिहास युग)।

1. प्रागैतिहासिक काल

पहले लिखा गया है कि प्रागैतिहासिक काल का तात्पर्य, इतिहास युग के पहले या जिसका कोई इतिहास नहीं लिखा गया हो अथवा जिस अवधि का कोई लिखित विवरण नहीं है, से है। अतः प्रागैतिहासिक पुरातन झारखण्ड की धरती और यहाँ के सर्वप्रथम आदिम निवासी आदिवासी हैं। जिन्होंने अपनी सभ्यता-संस्कृति, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक व्यवस्था से इस धरती पर सामंजस्य स्थापित किया और इसे मनोरम बना कर रखा है। जो आज एक अवशेष नहीं है बल्कि यह संसार और समस्त मानव समुदाय के लिए उपयोगी साबित हो रहा है। जिसमें प्राक् इतिहास के ज्ञान के स्रोत- पुरातत्त्व, वास्तुकला, मानव-विज्ञान और यात्रा वृत्तांत निहित हैं। क्योंकि मनुष्य लिखना नहीं जानता था। वह युग जब मनुष्य घटनाओं का कोई लिखित विवरण नहीं रखता था "प्राक् इतिहास युग" कहलाता है। इसी को प्रागैतिहासिक काल भी कहते हैं। अतः प्राक् इतिहास का तात्पर्य प्राचीन काल के (पहली शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी तक) से पूर्व वृहत् अवधि से है।

इस काल में झारखण्ड का अभिप्राय एक समान वनस्पतियों एवं यहाँ के आदिवासियों के निवास क्षेत्रों वाले वृहत् भूखण्ड से है। जिसमें रोहतास, नंदनगढ़, पिपरगढ़, हरदीनगर, आजमगढ़, ओड़िसा, बिहार, मध्यप्रदेश, प.

बंगाल, उत्तर प्रदेश के हिस्से इसमें शामिल थे। कालक्रम में ये जनजातियाँ छोटानागपुर के केन्द्रीय भूखण्ड की ओर घसकते गए और उसी आधार पर वो भूखण्ड भी उनसे कटती चली गई। पुराने निवास वाले भूखण्ड झारखण्ड एवं अन्य राज्यों के अंग बनते चले गये। जैसा कि इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है ''... मुगल काल में पश्चिम में रोहतास से पूरब में पंचेत की पहाड़ियों तक तथा मध्य भारत के रतनपुर से दक्षिण में उड़ीसा की सीमा तक का वृहत् क्षेत्र झारखण्ड के नाम से जाना जाता था।'' (झारखण्ड का भूगोल, पृ. 8- 9)

राजनीतिक दृष्टिकोण से वर्त्तमान झारखण्ड राज्य के भूभाग या क्षेत्रफल से बाहर नंदनगढ़, आजमगढ़, पिपरगढ़, पालीगढ़ आदि गढ़, जिसकी चर्चा बाद में करेंगे, झारखण्ड में शामिल थे। प्रागैतिहासिक काल में इस वृहत् झारखण्ड को 'खुखरा' कहा जाता था। इस खुखरा प्रदेश की राजधानी (महांपड़हा) रोहतासगढ़ थी। उपर्युक्त गढ़ें रोहतासगढ़ के गढ़ थे। यह निर्विवाद है कि उराँव, मुण्डा का निवास पिपरागढ़, नंदनगढ़, हरदीगढ़ आदि में था। एल.पी विद्यार्थी, एस.सी. राय एवं अन्य विद्वानों ने भी इसकी चर्चा की है। अतएव द्राविड़ भाषा के आधार पर झारखण्ड के उराँवों का उद्गम स्थान दक्षिण भारत को मान लेना उचित नहीं है। हम जब दक्षिण भारत को उराँवों का उद्भव या मूल क्षेत्र निश्चित कर लेते हैं तब उपर्युक्त गढ़ों और रोहतासगढ़ जैसे जगहों में एक प्रशासक के रूप में रोहतासगढ़ को उराँवों का किला के रूप में तथा वहाँ इनके निवास की बातें व्यर्थ सी प्रतीत होती हैं। पुनः एल. पी. विद्यार्थी ने भी अपनी पुस्तक "बिहार के आदिवासी" में उराँवों का मूल निवास दक्षिण भारत में होने को अस्वीकार किया है ।

संभवतः प्राक् इतिहास काल में रोहतासगढ़ को बसाने वाला रोहता उराँव 'खुखरा प्रदेश' (झारखण्ड) का महाराजा या सिङबोङा राजा थे। उराँव (कुडुख) भाषानुसार व्यक्ति के नाम के अन्त में 'स' प्रत्यय जोड़कर किसी वस्तु के संकेत के लिए उच्चारण किया जाता है। इसी आधार पर इन्होंने रोहता को 'रोहतास' कहा। जैसे कि उराँव लोग महादेव को महादेवस कहते और लिखते हैं। इस रोहता+स से रोहतास और इसी व्यक्ति के नाम से रोहतासगढ़ कहा गया। बाद में नागवंशियों ने रोहता उराँव को प्यार या उनके सम्मान में उन्हें 'रोहिदा' कहा। आदर सूचक शब्द 'दा' प्रत्यय लगाकर पुनः कुडुख प्रत्यय 'स' लगाकर "रोहिदा+स" से रोहिदास और इसी रोहिदास से उनका गढ़

रोहिदासगढ़ हुआ। उसी रोहता या रोहित (रोहिदा) की बेटी "सिनगी= प्रसिद्ध कुड़ुख राजकुमारी, जिसने रोहतागढ़ पर आक्रमण का वीरतापूर्वक समाना किया था।" (कुड़ुख-हिन्दी शब्द कोश, नीलम टोप्पो पृ. 58)

जिसकी स्मृति में आज भी सम्पूर्ण झारखण्ड की आदिवासी महिलाएँ प्रति 12 वर्ष में एक बार 'जनी शिकार' के लिए निकलती हैं।

खुखरा प्रदेश या रोहतासगढ़ की उपराजधानी (पड़हा मण्डल) खुखरा पहाड़, रिचीबुरु, हेहल-बाजरा थी। इसका विस्तार वर्त्तमान खुखरा-ढोंएसा और मांडर के बूढ़ा खुखरा तक था। राँची पहाड़ी (रिची बुरु), हेहल-बाजरा का बरपहाड़ी या पहाड़ी देवता (दुर्ग) था जिसकी घास के नाम 'खुखरा' के कारण सम्पूर्ण झारखण्ड खुखरा प्रदेश कहलाता था। इसका मुख्य स्थल वर्त्तमान मुड़मा मेला का भूभाग था। इस काल में यहाँ तिरकी लोगों ने रिची बुरु = बाज पक्षी पहाड़ (राँची पहाड़ी) "रिची" से अपने गोत्र का संबंध रखा।

आज भी शादी विवाह और मृतक का छाया भीतराने, पूजा अनुष्ठान के समय संक्षेप में हेहल-बजड़ा का उच्चारण करते हैं। इसी तरह रोहतास गढ़ का। हो सकता है इस काल में तिरकी लोग यहाँ मुख्य उत्तराधिकारी रहे होंगे। इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। इसलिए तिरकी गोत्र का अर्थ बाज पक्षी या शिकारी पक्षी भी होता है। इसी प्रकार राँची पहाड़ी घास और रोहतासगढ़ पहाड़ी के घास खुखरा या कुकरा के तर्ज पर खुखरा कहा जाता था। इस दुर्ग की उपत्यका में हेहल-बाजरा का एक टोला अरची था। जहाँ कृषि कार्य, खेत निर्माण, शिकार तथा युद्ध, जीवन रक्षा के लिए औजारादि को तैयार करने वाला लोहरा समुदाय रहता था जो उराँवों और मुण्डाओं का भाई था। "समीप गाँव तथा बस्तियों में लोहे के औजार बनाते थे। ये लोहरा अरची (बैल आदि को हाँकने का डंडा, जिसे एक सिरे पर लोहे का नुकीला भाग रहता है) बनाने में बड़े ही निपुण थे। लोग अरची बनवाने के लिए अधिकाधिक संख्या में यहाँ आया करते थे। इस कारण इस बस्ती का नाम लोगों के अनुसार "अरची टोली" कर दिया गया। अर्थात् वह स्थान रंची तथा राँची के रूप में हुआ। 'अरची' उराँव भाषा का शब्द है।" (राँची एक्सप्रेस, सम्पादक बलबीर दत्त, शनिवार 14 जून 2008)

उपर्युक्त अरची उराँवों की ही टोली थी जहाँ लोहरा रहते थे। यहाँ

न सिर्फ लोग अरची बनवाने आते थे बल्कि आस-पास के सभी प्रत्येक परिवार का प्रधान सुबह होते ही अपनी आवश्यकता के अनुसार कृषि कार्य, खेत तैयार करने शिकार करने, खैनी का चूना जलाने आदि औजार एवं हथियारों की मरम्मत या बनवाने के लिए जमा होते थे। इस प्रकार प्रति सुबह सालों भर मौसम के अनुसार और काम के अनुसार अरची में हथियार एवं औजारों का निर्माण व मरम्मत का काम हुआ करता था। औजार बनाने वाला सदस्यों के आगमन क्रम के अनुसार तैयार करते जाता था। तब तक जमा हुए लोग प्रायः यहीं पूरे गाँव, क्षेत्र के सामूहिक कार्यक्रम जैसे शिकार, पूजा, पर्व त्योहार मनाने आदि का समय, दिन-तिथि तय किया करते थे। लोहरा अर्थात् लोहे का औजार बनाने वाले को सभी कृषक परिश्रमिक के रूप में वर्ष में एक बार धान दिया करते थे। पर्व-त्योहारों के लिए एक विशेष-औजार तैयार करने का मूल्य पर्व के बाद घर-घर घूमकर वसूल कर लेता था। जैसे - सरहुल में मुर्गे की बलि चढ़ाने के लिए स्वतः लोहरा गाँव के परिवार की संख्या के अनुसार छुरी तैयार करता था। वह सरहुल के दिन घर-घर जाकर छुरी देते जाता था। जिसके दौरान उसे मान-सम्मान और आर्थिक लाभ मिलता था। पुनः त्योहार के बाद भी इसी क्रम में उसका परिश्रमिक वसूलता था। प्रत्येक घर में उसे स्वेच्छा से धान एवं पकवान मिलता, सम्मान मिलती था। पर्व त्योहार का यह उल्लास अभी भी पारम्परिक व्यवस्था सुदूर गाँवों में है। हालाँकि वर्त्तमान अर्थव्यवस्था से अब यह प्रभावित है और इसमें काफी बदलाव आ गया है।

तो यहाँ उराँव और मुण्डा जाति थी। दोनों द्राविड़ और आग्नेय भाषा के जानकार थे। तब ये भाषाएं द्राविड़ भाषा समूह में थी। उस समय उराँव और मुण्डा सामाजिक अंग के रूप में एक थे। उनकी सभ्यता-संस्कृति एवं भाषा अलग-अलग नहीं थी। इस तथ्य को स्वीकार कर पाना सर्वप्रथम द्राविड़ उराँव एवं आग्नेय मुण्डा भाषा-संस्कृति आदि के सागर की गहराई में गोता लगाने के उपरान्त ही संभव हो सकेगा। यही कारण हे कि यहाँ के उराँव की भाषा मुण्डारी है तथा कर्रा-खूँटी क्षेत्र के मुण्डा करम आदि व्यवहार में कुड़ुख लोकगीत ही गाया करते हैं। सभंवतः खुखरा नाम उराँव भाषा से तथा कुकरा आग्नेय भाषा से आया है। इससे सबंधित एक लोकगीत इस प्रकार है -

बुरु रेआः कुकरा दो
लिड़ुआकन जापुदाकना

हातु रेन डिण्डा कुड़ि
मिसाए जगर बरसाए लन्दाया

मुण्डाओं का दूसरा दल दक्षिण भारत से उड़िसा क्योंझार होते हुए पश्चिम बंगाल और वहाँ से संतालों के कारण जब राँची के मोराबादी में आया तब इस दल के नेता रिसा मुण्डा ने खुखरा प्रदेश का भ्रमण किया और पहले से रह रहे उराँव और मुण्डाओं को खुखरा और ढोंएसा में पाया था। इसी खुशी में अपने दल के लोगों को गीत के द्वारा बताया कि -

सोना लेकान दिसुम लिपि
कुकुरा रेञ लेना नालिपि
रूपा लेकान गमाया लिपि
ढोंएसा रेञ चिनादा लिपि

मुगल काल में मुगलों ने खुखरा का सही उच्चारण न कर सकने के कारण इसे खंकारा और कुकरा को कोकराह कहा। जिस तरह झारखण्ड का अर्थ जंगल-झाड़ से है। यहाँ की वनस्पति के आधार पर है। असुरी काल या प्रागैतिहासिक काल में तिरकी यहाँ का भुंइयार था। जैसा कि इससे संबंधित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

The tradition further goes on to say that when the munda first went to Khunti and its neighborhood, they found that part of the country in the occupation of the. Asure and the tirkis, the Ausur, it said, were the raiyats (Parja -horoko) and the tirkis the bhuinhars of the land, The many worked out iron-ores fund in this part of the country are attribued by local tradition to the Asurs, and heaps of bricks of very large dimensions occasionally unearthed in these parts are painted out as haring belonged to the buildings of the Tirkis, Who, it is said, had their gurh at Doisa. And the tradition goes on to ralate how when the Mundas with thier stalwoort physique appeared in the country; the Tirkis and Asuras got terribly frightened." (Munda and their country,

S.C. Roy, Page -89)

"मुण्डारी लोक कथा" नामक पुस्तक में भी इस तथ्य की चर्चा जगदीश त्रिगुणायत ने की है। पूर्व आधुनिक काल में झारखण्ड का मुख्यालय या जिला लोहरदगा था। तब खुखरा और ढोंएसा (वर्त्तमान लोहरदगा के भण्डरा प्रखण्ड में पड़ रहा है।) इसे ही कहा जाने लगा था। पुनः डॉ. दिलवर हंस ने अपनी पुस्तक 'होड़ो जगर रेअः एतेःहइसि नङगम' में लिखा है कि "खूँटी रेअः नेका जागार अउआ कना, मुण्डा को नेताः सिदा-सिदा को हिजुः लेन रे इनकु नेताः कोरे सिदाअते ताइनतन असुर को आर तिरकी जाति को नमलेद कोआ ; ने तिरकी कोने नेताः रे भुइंयार को ताइकेना ओड़ो असुर को इनकुआः रइयत को ताइकेना।" अर्थात् - खूँटी के बारे में इस प्रकार की बातें कही जाती रही हैं। जब मुण्डा लोग पहले-पहल यहाँ आए, तब असुर और तिरकी जातियों से इनकी मुलाकात हुई थी। तिरकी यहाँ के भुइंयार थे और असुर उनके रैयत थे।

"ने असुर को पेड़ेआन होड़ोकी मराङ रागोसा को लेकाको ताइकेना। इनकुआः कुड़िकोआः सुपुरेआः चिमिनाङ लेका मेड़ेद रेआः टाड़को देवगामी हातु रेआः इनकु बाइलेट मठकोरे नम लेना। एना टाड़को निमताङ आबुआः काटा बुलुकोटे एनाङ तुसिङ टाउकओःआ। एना तेगे जाः इनकु मोद पुराःको कामि तन रे मुसिङ मोदनिदा रे मिआद जोंतोर पुकुरी को उरतेआर दाडिञ्तन ताइकेना। मुण्डा तेको जागार तन ताइकेना। निकुलोः आबु मुण्डा कोआः माजा जापागर ताइकेना। सरति ओसोर काजि दो होनाङ ने असुर को मुण्डा कोगे ताइकेनां इनकु मुण्डा कोआः माराङ हागाको ताइकेना। निकु मुण्डा कोलोः मोद जाति उत्तर को ताइकेना।" अर्थात् असुर विशाल और राक्षसों के सामान थे। इनकी पत्नियों के लोहे के आभूषण देवगामी गाँव में उनके द्वारा निर्मित मठ में मिले हैं। तभी तो असुरों में एक रात में एक तालाब कोड़ने की क्षमता थी। असुरों के साथ हम मुण्डाओं का अच्छा संबंध था। उनकी भाषा-मुण्डा थी। सच तो यह है कि असुर मुण्डाओं के बड़े भाई थे। मुण्डाओं के साथ एक जाति के थे। संभवतः उपर्युक्त तथ्य मुण्डाओं तथा असुरों के प्रसंग में ही प्रतीत होता है।

पूर्व आधुनिक काल में झारखण्ड का मुख्यालय या जिला लोहरदगा

था। तब खुखरा और ढोंएसा (वर्तमान लोहरदगा के भण्डरा प्रखण्ड में पड़ता है) उसे ही कहा जाने लगा था। अतः उराँव और मुण्डाओं के इतिहास को अलग-अलग कर देखना सर्वथा उपयुक्त नहीं जान पड़ता।

किन्तु झारखण्ड या छोटानागपुर के इतिहासकारों ने यहाँ इनकी (उराँव-मुण्डाओं की) ऐतिहासिकता एवं जीवन वृत्तांत के संबंध में अपना विचार इस प्रकार से प्रस्तुत किया है -

डॉ. विसेश्वर प्रसाद केसरी के विचार -

1. उराँवों का छोटानागपुर प्रवेश मुख्यतः 1206 ई. में बख्तियार खिलजी के गौंड अभियान के साथ हुआ जान पड़ता है। लगभग इस समय मुसलमानों का भी आगमन होने लगा। (छोटानागपुर का इतिहास : कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ, पृ. 24)

2. 5वीं 6वीं सदी ईसा पूर्व मुण्डाओं का इस क्षेत्र में प्रवेश हुआ। (छोटानागपुर का इतिहास, पृ. 105)

3. मुण्डा लोग उराँव से खान पान में भी कुछ परहेज रखते हैं। कदाचित इसका सूत्र इस ऐतिहासिक वैर-भाव में निहित है। (छोटानागपुर का इतिहास, पृ. 24)

यहाँ प्रश्न उठता है कि इतिहासकार ने अपनी पुस्तक 'छोटानागपुर का इतिहास : कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ' को दर्शाने हेतु मुण्डा लोग उराँव से खान-पान में कुछ परहेज रखते हैं जैसे तथ्य को प्रस्तुत करने का क्या औचित्य है। उराँव से मुण्डाओं का खान-पान में परहेज है यह सही है और यह भी सच है कि सभी जाति जनजातियों से भी परहेज रखते हैं।

प्रकाशचन्द्र के विचार -

छोटानागपुर में उराँव जाति का प्रवेश 1206 ई. के आस-पास रोहतासगढ़ बट से भेलक। श्री आर.आर. दिवाकर कर "बिहार थ्रु एजेज" में इसन संभावना बताल जाय हे कि उराँव मनकर छोटानागपुर में प्रवेश संभवतः बख्तियार खिलजी कर सेना कर रूप में भेलक। अब ऊमन जे कारण इया परिस्थिति कर चलते जे रूप में आय होबयँ उकर चलते उमन संगे गैर आदिवासी जाति में भी से घरी छोटानागपुर में प्रवेश कइर होबयँ इकर

संभावना नी रहे इसन भी कहल जाय सकेला। सेहे ले जखन उराँवमन छोटानागपुर प्रवेश करलयँ से घरी और ऊमन कर संगे चाहे आगे-पीछे, ओहे कारण से कुछ गैर आदिवासी जाति भी छोटानागपुर में प्रवेश कइर होबयँ। आउर बइस गेलयँ।" (मोगल कालीन झारखण्ड कर राजनैतिक इतिहास, पृ. 11)

डॉ. भुवनेश्वर के विचार

उराँवों का छोटानागपुर में आगमन 14 वीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ। ये पठानों के आक्रमण तथा उनसे पराजित होने के बाद भागकर पलामू में आये। छोटानागपुर में इसके पूर्व भी उराँव के यहाँ वर्तमान रहने का संकेत मिलता है। नागवंशावली में उल्लेख है कि फणिमुकुट राय के राज्यारोहण के समय थोड़ी संख्या में अन्य जनजातियों के साथ उराँव थे। (अतीत के दर्पण में झारखण्ड पृ. 41-43)

डॉ. उमेश प्रसाद सिंह 'शांस्त्री' के विचार

द्राविड़ों के अन्तर्गत उराँव जाति का आगमन तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही शुरू होता है। सन् 1206 ई. में बखितयार खिलजी का आक्रमण इस भू-भाग पर हुआ था। उसकी सेना में उराँव लोग भी थे। यहाँ आने के बाद उन्होंने इस भूमि पर वास भी किया। यह जाति और भी तेज निकली। मुण्डाओं के साथ अनेक संघर्ष भी हुए। मुण्डाओं को अपने निवास स्थल बदलने पड़े। आज भी मुण्डा शब्द द्वारा नामांकित ग्रामों में उराँव जाति निवास करती है। इनकी संस्कृति अलग थी, किन्तु यहाँ बसते ही इनकी परम्परा ने यहाँ की परम्परा से सामंजस्य स्थापित कर लिया।" (जनजाति विशेषांक, सेवा सुरभि, पृ. 46)

रामकुमार तिवारी के विचार

मध्यकाल (1526-1765) का इतिहास आरम्भ होता है शेरशाह के आक्रमण से जब 6 अप्रैल 1538 में वह रोहतास पर अधिकार जमा लेता है। उराँव इसी समय रोहतास छोड़कर छोटानागपुर के आंतरिक हिस्से में प्रवेश करते हैं और दक्षिणी कोयल नदी बेसिन क्षेत्र में बस जाते हैं। उराँव मुण्डाओं द्वारा बनाए गये गाँवों में बसने लगते हैं। अपने पैतृक गांवों को छोड़कर

मुण्डाओं को भागना पड़ा जिसमें उराँव बस गए, ऐसे उदाहरण अनेक हैं। इस प्रकार उराँव का छोटानागपुर में बसाव का इतिहास 16 वीं सदी से ही आरम्भ माना जाता है। (झारखण्ड का भूगोल, पृ. 9-10)

नारायण प्रसाद जहानाबादी के विचार -

1. यहाँ की आदिम जातियों में असुर सबसे पुरातन निवासी माने जाते हैं। ... उनके बाद यहाँ मुण्डा जाति आई। यहाँ के जंगलों में संथाल और हो गीत गूंज उठे। ... मुण्डा जाति के बाद उराँव यहाँ की धरती पर आई। उराँव पहले बिहार के रोहतासगढ़ में निवास करते थे। (राँची एक्सप्रेस, 4 सितम्बर, बुधवार 2002, अखरा पृष्ठ से।)

2. पलामू के वन और घाटियाँ प्रागैतिहासिक युग से ही आदिम जातियों की क्रीड़ा स्थली रही है। कहते हैं अति प्राचीन काल में यहाँ रक्सैल लोग राज करते थे। तब चेरो और खेरवार आए, कोरवा, किसान, परहिया, असुर, उराँव, मुण्डा आदि अनेक जनजतियाँ उन्हीं चेरों और खरवार राजाओं की छत्रछाया में पलती रही। मेदनीराय चेरो वंश के राजाओं में सबसे प्रमुख था। 1662 ई. से लेकर 1674 तक मेदनीराय का शासन चेरो इतिहास का स्वर्णकाल माना जाता है। मेदनीराय ने दक्षिणी गया और हजारीबाग में कुछ भागों को जीता। उसने सुरगुजा के कुछ भागों को अपने राज्य में मिलाया और छोटानागपुर के महाराजा को स्वयं उन्हीं की राजधानी डोइसा या नवरतन गढ़ में पराजित कर अपने प्रबल पराक्रम का परिचय दिया। मेदनीराय ने अपनी इन्हीं विजयियों के उपलक्ष्य में पलामू का किला बनवाया। (राँची एक्सप्रेस, मंगलवार, 24 सितम्बर 2002, झारखण्ड दर्पण से।)

नारायण प्रसाद जहानाबादी के विचार के उपर्युक्त पंक्तियों में यह संकेत मिलता हैं कि प्रागैतिहासिक पलामू आदिवासियों का क्रीड़ा स्थल था। यह तथ्य वास्तविकता से परे नहीं हैं। प्राचीन काल में रक्सैलों के शासन का उल्लेख उसने किया है। तब चेरो और खरवार आये, कोरवा, किसान, परहिया, असुर, उराँव, मुण्डा आद कई जनजातियाँ उन्हीं चेरो और खरवार राजाओं के अधीन थे। मेदिनीराय चेरो वंश के राजाओं में प्रमुख था। 1662 ई. से लेकर 1674 तक इनका शासन था। इस ई. सन् के आधार पर ये तथ्य अति प्राचीन का या प्रचीन काल को प्रमाणित न कर भारतीय इतिहास के उत्तर मध्यकाल

के मुगलकाल का अंतिम चरण एवं अंग्रेजी शासन काल के पूर्व की अवधि को इंगित करता है न कि प्राचीन काल को। यह सच है कि मध्यकाल से आजादी के बाद और जमींदारी भेष्ट होने तक झारखण्ड के उराँव, मुण्डा आदि आदिवासी नागवंशी और चेरो खरवार राजाओं के छत्रछाया में पलती रही। अतः प्रागैतिहासिक काल और प्राचीन काल में उराँव और मुण्डा आदि जनजातियाँ चेरो राजाओं के छत्रछाया में क्रीड़ा को दर्शाना इनका एक मनगढ़ंत प्रयास है। ... 1662 ई. से 1674 तक मेदिनीराय का शासन चेरो इतिहास का स्वर्ण काल माना जा सकता है और यह उत्तर मध्यकाल में मुगल काल के अंतिम अवधि का संकेत करता है।

डॉ. एल. पी. प्रसाद विद्यार्थी के अनुसार रोहतासगढ़ से उराँवों को मुसलमानों ने नहीं हटाया। वे चेरो (नागवंशी) थे। क्योंकि फणिमुकुट राय झारखण्ड (छोटानागपुर) के महाराजा बनते ही सभी गढ़ नागवंशी और सदानों के अधीन में आ गया था। उसी समय लगभग फणिमुकुट राय के शासन काल में ही उनकी शादी के कुछ समय बाद पूर्व मध्यकाल में चेरो आदि नागवंशियों से तंग आकर उराँवों के दल ने झारखण्ड की भूमि से ही मध्य झारखण्ड में वास कर रहे अपनी सह जाति समुदाय के क्षेत्रों में प्रवेश किया था। जिसकी चर्चा हम बाद में करेंगे।

'झारखण्ड का भूगोल' के लेखक ने झारखण्ड में उराँवों के आगमन की जो तिथियाँ निर्धारित की हैं वह बिल्कुल तर्क संगत या ऐतिहासिक नहीं है। उन्हें उराँव का तात्पर्य ही नहीं पता और न उनके पास उराँव और मुण्डाओं के बीच हुई लड़ाई का कोई प्रमाण है। झारखण्ड में मध्यकाल का आरम्भ 64 ई. (आठवीं शताब्दी) को प्रथम नागवंशी राजा फणिमुकुट राय के राज्यारोहण के साथ ही होता है न कि 1526 ई. से। इन्होंने यह भी चिन्हित करने का प्रयास किया है कि उराँव मुण्डाओं के बने-बनाये गाँव और जमीनों पर बसे, जिस कारण मुण्डाओं को गाँव छोड़कर भागना पड़ा। लेखक के पास इसका भी कोई प्रमाण नहीं होगा और उन्हें यह भी पता नहीं है कि झारखण्ड के उराँव और मुण्डाओं की जमीनें किसनी लूटी। उनके बने-बनाए भूभाग में कौन बस गया कि उन्हें गाँव छोड़कर भागना पड़ा। यहाँ निःसंकोच कहा जा सकता है कि ऐसे लोग झारखण्ड की जनता को भ्रमित करने वाली सूचना पहुँचाने के काम में संलग्न हैं।

वर्त्तमान झारखण्ड में गैर आदिवासी जो स्वयं को जमीनदार मानते हैं जिनके पास हजारों एकड़ कृषि योग्य भूमि उपलब्ध है या उनके कब्जे में है। तो क्या उसने खुद कृषि योग्य भूमि का निर्माण किया? यह संभव ही नहीं था। झारखण्ड की वैसी जमीनें जिन पर खेती होती है, उसे आदिवासियों ने तैयार किया था। जिस पर बाद में गैर आदिवासी जमीनदारों ने उराँव अर्थात् कोड़ने वाले धांगरों से राजनीतिक दाव-पेंच लगाकर उसे कभी मालगुजारी तो कभी दूसरे कारणों और कभी अन्य के माध्यम से बेदखल कर उन पर अपना कब्जा बना लिया है। इसी का परिणाम है कि झारखण्ड में जमीनदारी कायम होते ही आदिवासियों ने इसका तीखा विरोध किया और लगातार आन्दोलन किए।

अतः उपर्युक्त विद्वानों के विचार और उनके तथ्य झारखण्ड के इतिहास को कालक्रम में प्रस्तुत करने में बाधक सिद्ध होते हैं। तभी तो अतीत के दर्पण में 'झारखण्ड' नामक ग्रंथ में नागपुरी भाषा साहित्य के प्रणेता डॉ. श्रवण कुमार गोस्वामी ने लिखा है कि "मगर झारखण्ड के समग्र इतिहास की प्रतीक्षा अभी भी बनी हुई है।" यही कारण है कि झारखण्ड का सही इतिहास अब तक उपलब्ध नहीं हो सका है। क्योंकि छोटानागपुर या झारखण्ड के सही इतिहास-लेखन की सदा से उपेक्षा होती आई है। सही इतिहास के अभाव में यहाँ की जनता भ्रमित होती रही है।

झारखण्ड की धरती में सर्व प्रथम कदम रखने वाले आदिवासी हैं और प्रागैतिहासिक काल से ही यहाँ आदिवासियों का साम्राज्य रहा है। समान्यतः झारखण्ड के आदिवासी प्रांतीय एवं राष्ट्रीय स्तर पर आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं ऐतिहासिक जैसे रूपों में शोषित हैं। प्रायः झारखण्ड के सदान इतिहासकारों ने अपना उत्कर्ष या इतिहास को दर्शाने हेतु छोटानागपुर का इतिहास लेखन का आरम्भ मदरा मुण्डा, मुण्डा राजा के अंतिम समय में एवं प्रथम नागवंशी राजा फणिमुकुट राय के शासन प्रारम्भ होने या मध्यकाल से आरम्भ करते हैं तो कहीं इसी मदरा मुण्डा के द्वारा फणिमुकुट राय के जन्म की घटना के समय से। 'झारखण्ड का भूगोल' नाम पुस्तक में झारखण्ड को अलग राज्य घोषित करने के पूर्व "झारखण्ड स्वशासन परिषद्" से प्रारम्भ किया गया है। इसी भाँति झारखण्ड के इतिहासकारों, लेखकों ने प्राक्-इतिहास काल में यहाँ उराँव तथा मुण्डा जैसे जनजातियों के

पूर्व असुर आए और सदानों के वर्त्तमान रहने की तथा अपने अनेकों पुस्तकों में उन्होंने इस संबंध में पुरजोर ढंग से लेकिन मात्र सांकेतिक विचार ही प्रस्तुत किया है, और अभी भी कर रहे हैं। जिसका लिखित एवं अलिखित राजनीतिक, सामाजिक, संस्कृतिक, धार्मिक व अन्य ऐतिहासिक उपलब्धियों का कोई विस्तृत विवरण किसी ने अब तक प्रस्तुत नहीं किया है।

ऐसे विद्वानों में **पंडित योगेन्द्रनाथ तिवारी के विचार** -

मुण्डा और उराँव के छोटानगापुर में आने से पहले यहाँ अवश्य कोई ऐसी भाषा थी जो सबल और सजीव थी। वह सर्वत्र प्रचलित भी रही होगी। तभी तो उराँव और मुण्डा लोगों ने नागपुरी को अपनी भाव अभिव्यक्ति का माध्यम बना लिया।

डॉ. विसेश्वर प्रसाद केसरी के विचार -

मुण्डा आदि जातियों के आगमन के पूर्व इस क्षेत्र में एक भिन्न सभ्यता विकसित थी। (नागपुरी भाषा साहित्य, पृ. 1)

फादर नवरंगी के विचार -

हम देख चुके हैं कि मुण्डा-उराँवों के आगमन के पूर्व छोटानागपुर में असुर नामक एक अनार्य जाति थी, जिसकी अपनी सभ्यता थी और अपना धर्म था। (छोटानागपुर का संक्षिप्त इतिहास, पृ. 21)

डॉ. भुवनेश्वर अनुज के विचार -

1. मुण्डा और उराँव जनजातियों में पहले मुण्डा बिहार के पालीगढ़ (पटना) से यहाँ आये और उनलोगों ने यहाँ पहले से रह रहे 'सरएवक' से युद्ध किया (हंटर रिपोर्ट पृ. 268-269)। बाद में रोहतास से उराँव यहाँ आये। मुण्डाओं से युद्ध हुआ। (अतीत के दर्पण में झारखण्ड, पृ. 45)

2. मुण्डा घने वनों और पहाड़ी क्षेत्र को अपने लिए उपयुक्त मानकर राँची में बस गए। उनलोगों ने पाया कि यहाँ पहले से ही एक अन्य सभ्यता की जाति (जिसमें असुर भी शामिल हैं) के लोग रह रहे हैं। फिर भी मुण्डा अपने को यहाँ निरापद मानकर शांतिपूर्वक रहने लगे, लेकिन आगे चलकर वे

अशांत हो गए। उन्हें अपने विस्तार के लिए पहले से रह रही जाति से युद्ध भी करना पड़ा और विजयी भी हुए। मुण्डा से पूर्व यहाँ उराँवों का निवास था। नागवंशी शासन से बहुत पहले से ही आर्य सभ्यता यहाँ थी। (अतीत के दर्पण में झारखण्ड, पृ. 44)

मानगोविन्द बनर्जी के विचार -

उराँव और मुण्डाओं तथा उनसे संबंधित जातियों में मौलिक भेद है। द्राविड़ उराँव के सामने मूर्ति पूजक, हिन्दुओं के समान पूजा करने के लिए एक स्थूल वस्तु जैसे एक पत्थर एक लकड़ी का खुँटा अथवा माटी का एक ढेर कुछ प्रतीक के रूप में होना चाहिए वे द्राविड़ पूर्व मुण्डाओं और हो लागों के मुकाबले जे भगवान की मूर्ति नहीं बनाते और न चिन्हों की पूजा करते हैं। उराँव लोग प्रायः सिंङबोंगा (सूर्यदेवता) मुण्डाओं में सर्व शाक्तिमान देवता की अनदेखी करते हैं और दुष्ट आत्माओं की ओर से प्रत्येक चट्टान, सड़क, नदी, बगीचा जहाँ भूतों का धर्मानुष्ठानिक निवास है को विश्वास में लाते हैं। ये बहुत ज्यादा अंधविश्वासी होते हैं। उनके देवता दुष्टात्माएँ है जिनको किसी शुभ कार्य के पूर्व संतुष्ट किया जाता है। (छोटानागपुर की ऐतिहासिक रूप-रेखा, पृ. 39)

'छोटानागपुर की ऐतिहासिक रूप-रेखा' पुस्तक में इतिहासकार ने उराँव और मुण्डाओं के मौलिक भेदों में उनके धार्मिक तथ्य को उजागर किया है। इन्होंने कहा कि उराँव जनजाति में पूजा करने के लिए एक स्थूल वस्तु और एक पत्थर, एक लकड़ी का खूँटा या मिट्टी का ढेर एक प्रतीक के रूप में होना चाहिए।

पर यह तथ्य दोनों ही जाति में है। और यह प्रकृति का प्रतीक है। यदि इसका मूर्ति रूप दे दिया जाय तब हिन्दू जैसा हो जाएगा। आगे इन्होंने अरोप लगाया है कि उराँव लोग प्रायः सिंङबोंगा (सूर्यदेवता) मुण्डाओं में सर्वशक्तिमान देवता है की अनदेखी करते हैं और अन्य पर अधिक विश्वास करते हैं। इनका यह आरोप निराधार है। क्योंकि दोनों का धर्म आदि धर्म या सनातन है। इनके देवता दुष्ट आत्माओं की भी नहीं है। प्रत्येक धर्म में मनुष्य किसी भी शुभ कार्य के पूर्व ईश्वर या देवता को सुतंष्ट व याद किया जाता है।

उराँव और मुण्डा दोनों प्रकृति के पुजारी हैं। इसमें कोई भेद नहीं किया जा सकता है। हाँ, पद्धति भिन्न हो सकता है। प्रकृति पूजा का तात्पर्य उस प्रकृति से है जिस प्रकृति में ब्रह्मा, विष्णु और महेश संभव है या जिस ब्रह्मा, विष्णु और महेश या सृष्टिकर्त्ता ईश्वर की कृपा से यह सृष्टि या प्रकृति संभव है।

उराँवों में अन्धविश्वास का जहाँ तक बात आई है। ऐसे कई इतिहासकारों ने इस प्रकार की चर्चा की है। "पूर्व पाषाणयुग में मानव अज्ञानी एंव अंधविश्वासी था। वह जादू-टोनों में विश्वास रखता था। वह मृतकों को गाड़कर उनके साथ उनकी प्रियवस्तु रख देता था।" (विश्व इतिहास प्रदेश, पृ. 04) लेकिन वह अन्धविश्वास नहीं उनका विश्वास था। आदिवासियों में यही परम्परा आज भी है। अन्य समुदायों में भी उसका किंचित परिवर्तन के साथ कालानुसार असर ही है।

डॉ. नागेश्वर सिंह के विचार -

उराँव नाम उन्हें हिन्दुओं ने दिया है। डॉ. शरत चन्द्र राय ने अपनी पुस्तक 'दि उराँवस ऑफ छोटानागपुर' में लिखा है कि हिन्दुओं ने इन्हें सर्वप्रथम 'रावणा-पूत' या ऊ-रावण कहा, जिसमें अन्ततः ऊँराव हुआ।" (जनजातीय भाषाएँ और ईसाई मिशनरी, पृ. 29)

उपर्युक्त विचार झारखंड या देश विदेश के जन समुदाय को दिग्भर्मित करने के सादृश्य है। उराँव जाति की उत्पति 'रावणा-पूत' या 'ऊ-रावण' से हुआ है तो क्यों ऊँ राम से नहीं हो सकता? रावण का अर्थ जाने बगैर ही ऐसी सूचनाएँ देकर यहाँ की भोली-भाली जनता को उनके विचारानुसार शोषक, अत्याचारी, अन्यायी, भ्रष्ट स्वरूप रावण से भी घृणित श्रेणी में इन्हें डालने का प्रयास किया है। क्या उराँव जाति अपने को रावण-पूत मानने को तैयार हैं? कितने हिन्दुओं की जगह-जमीन आदि को बेदखल कर या दखलकर उराँव जाति बसी रसी है कि वे रावणपूत या ऊ-रावण से उराँव नाम की सार्थकता को स्वीकार करेंगे? तो यह है कि "ऊँ" की सार्थक स्थिति हिन्दी भाषा साहित्य में है। रावण कोई जाति का नाम नहीं। रावणत्व का आशय किसी आचरण से है। उपर्युक्त लेखक के अनुसार रावण उराँव जाति का पुरुष था हो सकता है पर, उराँव शब्द का अर्थ उ-रावण नहीं। संभवतः

उराँव का अर्थ ऊँ-रंग अर्थात् ईश्वर अंग-रंग का प्रतीक है।

डॉ. श्रवण कुमार गोस्वामी के अनुसार

नागवंशीय राजाओं के प्रभाव के कारण इस क्षेत्र की भाषा का नाम 'नागपुरी या 'नगपुरिया' पड़ा। छोटानागपुर में वस्तुतः आदिवासियों की बहुलता थी। बाद में गैर-आदिवासियों का आगमन इस क्षेत्र में हुआ। उनके लिए यह संभव नहीं था कि वे आदिवासियें की भाषा में बातचीत करते। ये नवागन्तुक सदान के नाम से जाने गए और उनके द्वारा बोली जानेवाली बोली को सदानी के नाम से अभिहित हुई। शरत चन्द्र राय के मतानुसार सदानों का आगमन राँची जिले में 1628 ई. के बाद हुआ था। (डॉ. नागेश्वर सिंह, जनजातीय भाषा और ईसाई मिश्नरी, पृ. 35)

झारखण्ड में नागवंशी राजाओं ने राजतंत्र कायम की थी। "इस जद्दोजहद में कहीं-कहीं तो कुड़ुख भाषा बोलने पर भी मनाही थी। जैसे- जशपुर राजा, बिरू राजा, आदि के राज्यों में कुड़ुख भाषा बोलते हुए पकड़े जाने पर कोड़े की मार सहनी पड़ती थी। निश्चित रूप में लोगों में भयवश भाषा न सीखने एवं सीखाने की प्रवृति जगी होगी। (जोसेफ कन्डुलना, छोटानागपुर के आदिवासी, पृ. 168)

उपर्युक्त विचारों में जहाँ तक नागपुरी भाषा को आदिवासियों का अभिव्यक्ति का माध्यम बनाने का प्रश्न है? यह स्वाभाविक ही है कि झारखण्ड में फणिमुकुट राय के शासन प्रांरभ होने से आजादी के बाद जमीनदारी भेष्ट होने तक (एक लम्बी अवधि का) यहाँ नागवंशियों, सदानों और मुगलों का अधिकार था। उनकी भाषा सदानी थी। तब से या पहले से यहाँ के आदिवासी उराँव-मुण्डाओं का संबंध भोजपुरी से था। झारखंड राज्य में एक भी ऐसा उराँव परिवार नहीं होगा, जो सादरी या नागपुरी भाषा को भी नहीं जानता हो। वैसे भी नागपुरी बहुत पुरानी भाषा नहीं है। "नागपुरी विद्वानों के मतानुसार आठवीं से ग्यारवीं शताब्दी तक नागपुरी के बीज पड़ चुके थे और चौदहवीं-पन्द्रहवीं शताब्दी तक वे सारी विशेषताएँ इसमें आ गई होंगी। ये आधुनिक नागपुरी में विद्यमान हैं। (डा. नागेश्वर सिंह, जनजातीय भाषा और ईसाई मिशनरी, पृ. 35)

अधिकांश लोगों की धारणा है कि छोटानागपुर में पार्श्व प्रान्त के

निवासी कालक्रम से आकर बसते चले गए और उनकी भाषाएं आदिवासियों की भाषाओं से मिलजुलकर एक विशिष्ट बोली नागपुरी में परिणत हो गई। कहा जा सकता है कि नागपुरी बोली भोजपुरी, मघही, छत्तीसगढ़ी, उड़िया, बंगला, कुड़ुख, मुण्डारी आदि के मिश्रण से बनी है। (डॉ. नागेश्वर सिंह पृ. 33)

इसलिए भाषा आदान प्रदान का होना भी उचित ही था। उदाहरण के लिए झारखण्ड के उराँव और मुण्डाओं का अपना नृत्य अखड़ा है। वर्तमान समय में उराँव क्षेत्र के उराँव और मुण्डा का एक ही नृत्य अखड़ा है। यह आदिवासी की नैतिकता है। उसी तरह मुण्डा क्षेत्र में भी। इन अखाड़ों में पर्व त्योहार में सदानों को किसी तरह का बंधना नहीं था। नृत्य गान करने का। इन् लोगों ने अपने भाषानुसार इन अखड़ों के लिए गीतों की रचना की फिर उसकी देखादेखी आदिवासी भी करते गए। इस भाँति नागपुरी एक आदर्श पुरुष राजा की भाषा भी आदिवासियों की आदर्श भाषा बनती गई। जैसा कि आज अंग्रेजी की हो गई है। तो इसका मतलब यह नहीं है कि भारत में भारतीयों या भारतीय संस्कृति के पहले अंग्रजों, ईसाई मिशनरियों की सभ्यता संस्कृति थी। तभी तो भारतवासी का झुकाव अंग्रेजी की ओर है।

अतः इन विचारकों के आलोक में यह कहा जा सकता है कि झारखण्ड के इतिहासकारों ने आँख मूंदकर यहाँ के आदिवासियों तथा मुख्यतः उराँवों के यहाँ आगमन की एक नई कहानी गढ़ी। जिसका परिणाम हुआ झारखण्ड के आदिवासी जनों एवं उनकी भाषा संस्कृति, सभ्यता, यहाँ के इतिहास की उपेक्षा और अवमानना। इन्होंने यह भी सिद्ध करना चाहा कि झारखण्ड में उराँव जनों का प्रवेश भारतीय इतिहास के अनुसार, उत्तर मध्यकाल में सलत्नत काल के 13वीं, 14वीं, 16वीं शताब्दी और कहीं-कहीं मदरा मुण्डा के शासन काल में पहली शताब्दी (जबकि मदरा मुण्डा का शासन काल में पहली शताब्दी कैसे हो सकता है? जब 5वीं, 6 वीं शताब्दी में उनका प्रवेश होता है) में हुआ और मुण्डाओं का प्राचीन काल में। अर्थात् उनके अनुसार झारखण्ड प्रदेश में उराँव और मुण्डाओं का आगमन आर्यों, नागों, असुरों एवं अन्य के बाद में हुआ है।

यदि पहले यहाँ आर्य, नाग और असुर का आधिपत्य होता तो झारखण्ड की संस्कृति या आदिवासी सांस्कृतिक क्षेत्र में असुर ही प्रतिनिधित्व

किए हुए रहते। जनश्रुति एवं नागवंशावली से भी प्रमाणित होता है कि पहले यहाँ उराँव, मुण्डा क्रम से जातीय गणना की जाती थी। अब मुण्डा, हो, खड़िया, संताल और उराँव के क्रम में हो रहा है। इस भाँति इतिहासकारों ने जानबूझकर यहाँ के इतिहास की कड़ी को तोड़ा है। यह इतिहास के विपरीत है, फिर भी यह बदलाव सटिक है। लेकिन भविष्य में पुनः यह तब्दील होकर ये आदिवासी विदेशी कहलाने का संकेत है। जैसे कि "हाल के खोज से जानकारी प्राप्त हुई है कि झारखण्ड में आवास कर रहे मुण्डा, हो, संताली, गोंड, खासी आदि जनजाति तथा अनेक गैर अनुसूचित जनजाति न केवल झारखण्ड के निवासी हैं, बल्कि भारत की भूमि पर कदम रखने वाले प्रथम मानव जाति हैं। इन्हें आस्ट्रो-एशियाई भाषाई ग्रुप के लोग कहा जाता है, जो आज़ से 60 हजार वर्ष पूर्व अफ्रीका से भारत आए थे।" (अतीत के दर्पण में झारखण्ड, पृ. 6)

दक्षिण अफ्रीका देश सोमालिया में कुछ इसी तरह के त्योहार (सरहुल) मानने की परम्परा अवश्य है। "यह सरहुल नाम झारखण्ड के समुदाय विशेष की देन है, जो अपने चेहरे-मोहरों, शरीरिक ढाँचे, रूप-रंग, आचार-व्यवहार में आदिवासियों (जनजातीयता) की छाप लिए हुए हैं, जो सदान कहलाते हैं।" (डॉ. बी. एन. ओहदार, दैनिक हिंदुस्तान)

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि प्राक्-इतिहास युगीन झारखण्ड में किसका शासन था, या नहीं था? यहाँ उराँव का साम्राज्य कब था अथवा नहीं था?

"जब उराँवों के रोहतासगढ़ पर हमला हुआ तो एक वीर नारी महारानी सिनगी दई ने आगे बढ़कर पुरुषों को ललकारा।" (झारखण्ड दर्पण, नारायण प्रसाद "जहानाबादी" राँची एक्सप्रेस, मंगलवार 24 दिसम्बर 2002)

उपरोक्त एक वीर नारी किस काल में किसकी वीर पत्नी व किस महाराजा की बेटी, राजकुमारी या महारानी थी? संभवतः झारखण्ड में उराँवों का साम्राज्य प्रागैतिहासिक काल या आदिवासी काल के प्रथम-चरण को ठहराया जा सकता है। इस काल में इतिहास लिखने की प्रथा नहीं थी। जैसे-जैसे इनके बीच कालक्रमानुसार राजाओं या प्रशासकों में परिवर्तन होता गया, वैसे-वैसे पूर्व शासक उराँव जाति झारखण्ड या अपने राज्य धर्म की मर्यादा के लिए राजा की अधीनता एवं भाषा को स्वीकार करती गई। यही

कारण है कि उनके इतिहास को विलुप्त करने की भी चेष्टा की गई। *कहा भी जाता है कि किसी भी जाति या समुदाय को जड़ से खत्म करना है तो उसके इतिहास को मिटा दो। जिस जाति की कोई परम्परा नहीं है, उसका कोई इतिहास नहीं।* वहीं इन आदिवासियों की राजनीतिक, आर्थिक जीवन में परिवर्तन के कारण उनमें आक्रोश भी पैदा होता गया। इस युग में, राजा के राज्य में या दरबार में अपना श्रेष्ठतम उस इतिहास-वृत्तांत का बखान करना, राजा का अपमान समझा जाता था और आज भी।

इसकी पुष्टि मध्यकाल में राँची के नजदीक जगन्नाथ मंदिर के निर्माण की जनश्रुति से भी की जा सकती है- "जगन्नाथ मंदिर के निर्माण के संबंध में जनश्रुति है कि इक्कीस पुत्रों के पिता ठाकुर ऐनीनाथ शाहदेव वृद्धावस्था में पहुँच गये थे। संसार से उन्हें विरक्ति हो गई थी; अतः वे जगन्नाथ स्वामी के दर्शन के लिए पुरी की यात्रा के लिए निकल पड़े। उन्होंने अपने साथ एक निजी नौकर उराँव को भी साथ ले लिया। उन दिनों आज की भाँति यात्रा सुगम और निरापद नहीं थी। उन दिनों तीर्थ यात्री अपने साथ लाव-लश्कर लेकर चलते थे। लेकिन ऐनीनाथ ने सारी सुविधाएं रहने के वाबजूद अपने साथ लश्कर नहीं लिया। सारे विध्नबाधा पार कर ठाकुर पुरी पहुँचे। उसने भगवान का दर्शन किया। उन्हें वहाँ अपार शांति अनभुव हुआ। वे पूजा-अर्चना में समय व्यतीत करने लगे। सेवक-उराँव कठिनाई में पड़ गया। उसने भगवान पर चढ़ाए गए भोग-भात को भी ग्रहण करने से इनकार कर दिया। उसने देखा कि बिना विभेद के जगन्नाथ स्वामी को अर्पित भात का ग्रहण किया जा रहा है, फिर भी उसे यह स्वीकार नहीं था। वहाँ सात दिनों तक वह उपवास में रहा। सातवीं रात वह भूख से पीड़ित हो गया। उसने मन में ही कहा कि अगर वास्तव में भगवान जगन्नाथ हैं, तो वे मेरे लिए भोजन भेजते क्यों नहीं, तभी उसने देखा कि एक ब्राह्मण आया और उसके समक्ष थाली में भात रखकर चला गया। सेवक ने भात ग्रहण किया। उसे संतुष्टि मिली। दूसरे दिन सोने की थाली उराँव के पास मिलने से ठाकुर अपने को अपमानित महसुस करने लगे। उसी रात ठाकुर को स्वप्न आया कि वह वापस चले जाएं और वहीं जगन्नाथ स्वामी की स्थापना करें। (प्रभात खबर, राँची, 23 जून 2001, शनिवार, पृ. 12)

वह कैसा सेवक था? जिसने सभी का छुआ हुआ भोजन नहीं खाना

चाहा और जब भगवान जगन्नाथ ने स्वयं उराँव का जो सम्मान किया, उससे नागवंशी राजा ऐनीनाथ शहदेव अपने को अपमानित महसूस करने लगे। वहीं छोटानागपुर अथवा झारखण्ड के इतिहासकारों ने उराँव को यहाँ (झारखण्ड में) आने की विभिन्न तिथियाँ देकर इनका अपमान किया है।

इस प्रकार प्राक्-इतिहास काल में यहाँ उराँवों का अधिकार नहीं रहता तो नागवंशावली में और 'मुण्डा एन्ड देअर कन्ट्री' आदि ग्रंथों में उराँव, मुण्डा क्रम से जातीय गणना का उल्लेख नहीं आता। इस उपलब्धि को झारखण्ड या छोटानागपुर के इतिहासकारों ने अस्वीकारा है तथा उराँव को मध्यकाल के पूर्व यहाँ उसे अल्पसंख्यक के रूप में प्रस्तुत किया है।

'अतीत के दर्पण' में झारखण्ड पुस्तक की भूमिका में श्रवण कुमार गोस्वामी ने यह भी लिखा है कि "इस तथ्य के कारण यह कहने की विवशता महसूस होती है कि इतिहासकार इतिहास के साथ केवल छेड़-छाड़ तक ही अपने को सीमित नहीं रखते हैं, बल्कि मौका पाते ही वे उसके साथ बलात्कार करने से भी बाज नहीं आते।" जब उराँव, मुंडा आदि आदिवासियों के पूर्व डोम, चमार, घासी आदि जातियाँ होती तब झारखण्ड में जितने भी युद्ध हुए, उन युद्धों का प्रतिनिधित्व वही लोग करते। उराँव इनके सैनिक होते। लेकिन वास्तव में मध्य कालीन नागवंशी और राजपूत कालों में झारखण्ड में घासी आदि जातियों के लोग भी यहाँ के पद या महत्वपूर्ण पदों में आसीन थे। इसकी चर्चा लोक कथाओं में भी मिलती है। अतः उराँव, मुण्डा, संताल आदि जनजातियाँ यदि नागवंशियों या चेरो आदि की छत्र-छाया में रहे होते तो इन जनजातियों का सिनगीदई आंदोलन, कोल विद्रोह, लरका विद्रोह, सरदार लड़ाई, सिद्धू कान्हू आंदोलन, बिरसा आंदोलन, टाना भगत आदि आंदोलनों का प्रतिनिधित्व करने का क्या औचित्य था। यह भी मान्य है कि पहले यहाँ असुरों के उद्योग से झारखण्ड प्रभावित शुरू हुआ था। वह असुर अकेला नहीं था, वह उराँव और मुण्डा के अधीन था। जाति एवं भाषा अलग-अलग थी। इन्हीं का सम्मिलित नाम द्राविड़ था और असुर भी। इसकी चर्चा पहले की गई है जिसका एक सर्वोच्च सिङबोंगा राजा थे। इनका एक धर्म सरना या आदि धरम और एक ही राजनीतिक-सांस्कृतिक व्यवस्था थी। इसका प्रमाण उनके गोत्र हैं। असुरों के गोत्र इन्हीं उराँव और मुण्डाओं के समान है। एक समान किसी एक गोत्र के लोग एक ही वंश के हैं को चिन्हित करता है।

उपर्युक्त तिथियाँ तो सदानों के आगमन का है जैसा कि पता चलता है। शरत चन्द्र राय ने स्पष्ट लिखा है कि सदानों का आगमन राँची जिले में 1628 ई. के बाद हुआ था। (डॉ. नागेश्वर सिंह, जनजातीय भाषा और ईसाई मिशनरी, पृ. 35)

उराँव जब तेरहवीं, चौदहवी, सोलहवीं शताब्दी में रोहतासगढ़ से भागकर झारखण्ड में शरण लिए तब यहाँ इनकी राजनीतिक, ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और धार्मिक आदि जड़ें कैसे जमी? गाँव पंचायत, पड़हा, पड़हा मंडल, महा पड़हा और एक संसार ये संस्थाएं इनके शासन या राजनीतिक पद्धति के मात्र अवशेष ही नहीं, बल्कि अभी भी इनके समाज में झारखण्ड में यथावत है। इस आदिवासी युग या सतयुग (प्रागैतिहासिक कालीन झारखण्ड) के अध्ययन के स्रोत भी यहीं हैं। इनकी सभ्यता, संस्कृति, भाषा, इनके लोक साहित्य एवं धर्म में पुरातत्व, वास्तुकला, साहित्य और यात्रा वृत्तांत आदि हैं। इस युग में मंदिर, सिक्के एवं मोहर आदि का प्रचलन इनके बीच नहीं था। इनकी संस्कृति ही मोहर था एवं सामान के बदले सामान देना-लेना ही सिक्के या मूल्य। सरना कुंज ही देवी, देवताओं की पूजा स्थली या मंदिर।

इस काल में कुटीर उद्योग जैसे, तेल पेरने का घानी और मंडुवा पीसने का 'जाता' (चक्की) घर-घर में नहीं होता था। इस लकड़ी घानी में पूरे गाँव या क्षेत्र के लोग जाकर खुद अपना तेल पेर लेते थे। उसी तरह अगल-बगल वाले घर में भी वे चक्की में बेरोक-टोक जाकर पीस लेते थे। पीसने या तेल पेरने के बाद वह स्वेच्छा से घानी मालिक के लिए एक वस्तु में इच्छानुसार तेल भरकर छोड़ जाते थे। मडुंवा पीसने वाले भी वैसा ही करते थे। घानी मालिक की यही अतिरिक्त आमदनी थी। इस तरह उस युग के घानी मालिकों के घर में कई तरह के तेल मौजूद रहते थे। गाँव अथवा समाज के किसी परिवार में दवा के लिए किसी विशेष तेल की जरूरत पड़ती थी, तब वह सीधे घानी मालिक के घर पहुँच जाते थे। तेल रहने पर वह देने से कभी इनकार नहीं करता था। आवश्यकतानुसार दवा के लिए तो निःशुल्क देता था। बल्कि खाद्य जैसे उपयोग के लिए तेल के बदले अन्न से बदला जाता था आदि।

2. झारखण्ड का प्राचीन काल का इतिहास

प्राचीन कालीन (अर्थात् 6वी, 7वीं शताब्दी में या इसके पश्चात्) झारखण्ड में उराँवों का साम्राज्य ढूंढ़ा जाए तो रोहतासगढ़ मुण्डा राजा के अधीन था। इस काल में उराँव या आदिवासियों व अन्यों के राजा या महाराजा सुतिया मुण्डा थे। इसके बाद इसका बेटा मदरा मुण्डा हुआ तब उस वृहत् झारखण्ड की राजधानी सुतियाम्बे थी। रोहतासगढ़ का मुण्डा सरदार रैइया मुण्डा था।

मुण्डा राजा के बाद मध्यकाल में नागवंशियों और मुगलों का इतिहास मिलता है। मुगलों के बाद आधुनिक काल में अंग्रेजों का शासन तथा 1947 ई. से स्वतंत्र काल में 2 अगस्त 2002 ई. तक बिहार सरकार का शासन या राज्य था। 15 नवम्बर 2000 ई. से झारखण्ड नया राज्य अपने अस्तित्व में आ गया, जनजातियों की स्मृति में।

यहाँ निःसंकोच कहा जा सकता है कि झारखण्ड में द्राविड़ों अर्थात् उराँवों का साम्राज्य प्रागैतिहासिक काल में था। इसमें यह तथ्य भी एक संकोच का विषय है जो नागवंशावली में वर्णित है। इसलिए झारखण्ड में उराँवों का आगमन अवधि अद्वितीय है। जैसा कि सिन्धुघाटी सभ्यता ऋगवेद पूर्व द्राविड़ों की सभ्यता थी। तभी तो मानव वैज्ञानिक ललिता प्रसाद विद्यार्थी ने अपनी पुस्तक 'बिहार के आदिवासी' में उल्लेख किया है कि "ऐतिहासिक आधार को लेकर चलें तो हमें पता चलता है कि शाहाबाद के प्रदेश का कुछ ही हिस्सा सम्राट अशोक (271-231 ई. पूर्व) के आधिपत्य में था। इसके पूरे हिस्से पर अधिकार गुप्त साम्राज्य द्वारा नौवीं शाताब्दी में ही हो सका था। अतः यह कहना है कि उराँव लोगों को मुसलमानों ने रोहतासगढ़ से हटाया यह न्यायसंगत नहीं लगता जबकि हमें यह पता है कि 1539 ई. से पूर्व रोहतासगढ़ मुसलमानों के आधिपत्य में नहीं आया था। यह चेरो तथा खरवार लोग ही होंगे, जिनके आगमन पर प्रथम शताब्दी के आस-पास उराँव लोगों ने रोहतास छोड़कर छोटानागपुर की ओर प्रस्थान किया। यदि हमें छोटानागपुर राज्य के तारीखनामें को देखें तो हमें पता चलता है कि नागवंशी राजा के प्रथम राजा का राज्याभिषेक संवत् 121, 64 के लगभग हुआ और जैसा हमें पता चलता है उराँव लोग इस राज्याभिषेक के अवसर पर छोटानागपुर में

मौजूद थे। ये मौजूद ही नहीं बल्कि इन्होंने ही मुण्डाओं से छोटानागपुर के महाराजा (सिङबोङा राजा) पद पर उसे बैठाया था। इससे सम्बंधित पंक्तियाँ देखी जा सकती है - "उराँव लोगों ने मुण्डा आदिवासियों के साथ मिलकर फणिमुकुट राय को चुना। आदिवासियों का राज्य सम्प्रभु सम्पन्न राजा नहीं था न ही समाज से ऊपर था। सिर्फ युद्ध एवं अन्य सुरक्षा संबंधी मामलों में नेतृत्व करता था। समय-समय पर फल-फूल गाँव वालों द्वारा दिया जाता था। कालान्तर में राजतंत्र "वंशानुगत' हो गया लेकिन कोई भी राजा ने पड़हा पंचायत पद्धति में हस्तक्षेप नहीं किया।" (डॉ. केरूबिम तिर्की, छोटानागपुर के आदिवासियों की वैवाहिक परम्परायें एवं वर्त्तमान समस्याएँ, पृ. 04)

इस भाँति उराँवों की जनसंख्या एवं उनका साम्राज्य वृहत् झारखण्ड में था। उराँवों के शासन काल से ही तीस प्रकार की जनजातियाँ निवास करती हैं। इनकी कुल आबादी द्राविड़ कहलाती थी और उनकी अनेक भाषा का एक नाम द्राविड़ भाषा था।

1941 ई. से 1981 तक की जनसंख्या इस प्रकार है -

अनु. जनजाति	1941	1961	1981	1991	2011
1. उराँव	647444	735025	1054066	1154064	1716618
2. मुण्डा	525816	628931	855887	845887	1229221
3. हो	383737	454746	536523	536523	928289
4. संताल	192744	1541345	2060230	2060730	2754723
5. भूमिज	108230	101057	136109	136109	209448
6. खड़िया	87522	108983	141771	142271	196135
7. खेरवार	77589	109357	222758	222758	248974
8. महली	56309	67979	91868	91868	152663
9. सौरिया पहड़िया	58654	55606	39269	39269	46222
10. लोहरा	47368	92609	169089	....	216226
11. चिक बड़ाईक	29739	30670	40339	40339	54163
12. बेदिया	31813	38241	60446	60446	10061
13. माल पहाड़िया	40148	45423	79322	78322	135797
14. चेरो	19337	30845	52210	52210	95575

15. गोंड़	27445	33521	96574	96574	53676
16. किसान	19090	12011	23420	96574	37265
17. कोरा	13521	13824	33952	33952	32786
18. कोरवा	13021	21162	21940	21940	35606
19. करमाली	10549	26509	38651	38650	64154
20. पहरिया	10134	12268	24012	24012	25525
21. गोड़ाईत	9331	4793	5206	3865	4973
22. बिंझिया	5717	6725	10009	10009	14404
23. असुर	4388	5819	7783	7783	22459
24. बिरजिया	2075	4029	4057	4075	6276
25. बिरहोर	2550	2438	4377	4377	10726
26. सबर	1645	1561	3014	7079	9688
27. बथुड़ी	998	456	1595	1569	3464
28. खोंड	....	814	1264	1595	221
29. बनजारा	255	42	411	411	487
30. बैगा	54	951	3551	3551	3582
31. परहैया	.....	.....	.....	.....	22585
32. कोल	.....	.....	.....	.....	53584

(छोटानागपुर की जनजातियाँ और ईसाई मिशनरियाँ पृ. 31 एवं 1991 एवं 2011 की जनसंख्या विवरण प्रभात खबर, राँची से।)

इस प्रकार उराँवों की जनसंख्या एवं उनका साम्राज्य वृहत झारखण्ड की धरती में था।

असुर जाति भी द्राविड़ के अन्तर्गत थी, जैसे कि आज आदिवासियों में एक असुर भी है। द्राविड़ राजा के राज्य में इनके वंशज असुरों की प्रबल उद्योग एवं जनसंख्या थी। इनके अनेक गढ़ों में असुरों का अधिकार था। "आजमगढ़ में अब भी जनश्रुति है कि श्रीरामचन्द्र जी के समय इस प्रांत में. .. और असुर थे जो कोसल राज के अधीन थे।" (कुवर बालकृष्ण मुस्तर, कुरूक्षेत्र, पृ. 13)

अतः प्राचीन कालीन इतिहास के अध्ययन के स्रोत के आधार पर एवं उराँव लोक साहित्य में आजमगढ़, पंजाब, पिपरगढ़, नंदनगढ़, हरदीगढ़ आदि

गढ़ों के अनुरूप उराँवों के गढ़ों का विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है -

गढ़ों के नाम	**वर्तमान नाम**
कलेंजरगढ़	बुन्देलखण्ड में
चितौरगढ़	द. भारत के चित्रकुट में।
नगरवाड़गढ़	उत्तर प्रदेश के करकट्टा अंचल में।
धारवाड़गढ़	महाराष्ट्र में
पालीगढ़	बिहार के पटना जिा के पाली गाँव।
पिपरगढ़	पूर्वी चम्पारण जिले का पिपरा में।
बिनगा पहाड़गढ़	भागलपुर का माँदर पर्वत के नजदीक
हरदीनगरगढ़	मुंगेर का हल्दीगाँ में।
लकनीरगढ़	बिहार तिरहुत गोरखपुर या बलिया जिला के पास
नंदनगढ़	पश्चिम चम्पारण के गंढ़क नदी के पास।
राजगृहगढ़	बिहार शरीफ
खानदेशगढ़	हैदराबाद में
आजमगढ़	उत्तर प्रदेश में।
पालुमगढ़	पलामू में।
खरवाड़गढ़	मध्यप्रदेश में।
बिनजागढ़	उत्तर प्रदेश के प. आगरा-कोलारा गाँव
रोहतासगढ़	रोहतास में।
सुरगुजगढ़	मध्य प्रदेश में
ढोंएसागढ़	बेड़ो (झारखण्ड में)
लोहरागढ़	लोहरदागा (झारखण्डश्में)
लचड़ागढ़	झारखण्ड में
हजारीगढ़	हजारीबाग जिला।
उदयपुर गढ़	खिजरी प्रखण्ड का सिरिपरगना।
सोनापुरगढ़	खूँटी प्रखण्ड में।
रामपुरागढ़	छत्तीसगढ़
खुखरागढ़	राँची पहाड़ी

इन गढ़ो की राजधानी रोहतासगढ़ थी और उपराजधानी रिचिबुरु, खुखरा पहाड़, राँची पहाड़ी। इसके अलावे अनेक छोटे-छोटे गढ़ एवं पड़हा थे। प्रत्येक गढ़ एक गोत्र पर आधारित था। फिर भी अन्य गोत्र के लोग भी रहते थे। इसी काल में असुरों द्वारा फैलाए गए प्रदूषण की रोकथाम के लिए असुरों से मुण्डाओं की संघर्ष हुई थी। मुण्डारी लोक गाथा 'सोसोबोंगा कथा' से प्रमाणित होता है कि असुरों का एक गढ़ बुण्डू-तमाड़ था। अंततः यहाँ सिङबोंगा राजा ने अपने बड़े भाई के साथ स्वयं जाकर असुरों को नष्ट करने की आकांक्षा में अग्नि वर्षा की थी। पश्चात् वे दोनों भी दौड़ते-दौड़ते बचते हुए जाते और छोटा डोरन्डा, बड़ा डोरन्डा, छोटा राँची गाँव होते हुए बड़ा राँची पहाड़ी (रिचिबुरु) आये। इस प्रकार सिङबोंगा राजा की मदद से मुण्डाओं ने असुरों पर प्राक्-इतिहास काल में विजय हासिल कर ली।

झारखण्ड के इतिहासकार अब तक यह स्पष्ट नहीं कर पाए हैं कि असुरों और मुण्डाओं में लड़ाई कब हुई थी। डॉ. भुवनेश्वर 'अनुज' की पुस्तक 'अतीत के दर्पण में झारखण्ड' की पंक्तियाँ पाठकों को भ्रम में डालती हैं। "इतिहास से ज्ञात होता है कि मुण्डाओं ने असुरों को कब खदेड़कर छोटानागपुर पर अपना आधिपत्य जमा लिया। मुण्डाओं ने कब असुरों को भगाया यह स्पष्ट नहीं है। यह एक मान्यता सी हो गई लगती है कि लोहरदगा क्षेत्र में जनजातियों का प्रवेश 'सहरघाटी' से दक्षिण-पूरब से होकर हुआ है। मुण्डा भी उत्तर-पश्चिम क्षेत्र में बसे और फिर पश्चिम की ओर बढ़े जिसका प्रमाण जगह-जगह पर अनेक, 'ससन दिरी' है। उनका बढ़ना दक्षिण पश्चिम की ओर हुआ। जहाँ इस समय वे रह रहे हैं। (पृ. 72)

परन्तु यह स्पष्ट है कि मुण्डाओं ने असुरों को आदिवासी युग (प्राक्-इतिहास युग) के 5वीं शताब्दी या प्राचीन काल में पराजित किया था। उनकी इस हार के साथ ही असुरों का बोलबाला समाप्त हो गया तथा इसी समाप्ति के साथ प्राक्-इतिहास युग का अंत होकर प्राचीन काल या इतिहास काल का आरम्भ हो गया। मुण्डारी 'सोसोबोंगा' कथा में स्पष्ट है कि सिङबोंगा राजा ने असुरों को समझाने के लिए सर्वप्रथम दूत के रूप में केरकेट्टा और ढेंचुवा को भेजा था। ये केरकेट्टा, केरकेट्टा पड़हा का पड़हा राजा था और ढेंचुवा, ढेंचुवा पड़हा का। प्रागैतिहासिक काल में उनकी ये सवारी ही जाति थी। अब यह जाति आदिवासियों के गोत्र के रूप में वर्त्तमान है। जो

क्रमशः यहाँ के उराँव, असुर, खड़िया, और मुण्डा जनजातियों के गोत्र हैं जो अपना-अपना पड़हा दल लेकर असुरों को समझाने के लिए सिङबोंगा के संदेश को सुनाने गए थे। इसी भाँति इसके बाद के जितने भी दूतों के नाम कथा में मिलते हैं, वे भी वैसे ही हैं।

निष्कर्षतः यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि झारखण्ड में उराँव, असुर, हो, मुण्डा, खड़िया और संताल आदि जनजातियों का आगमन एक साथ कई दल में कई बार हुआ। ये जहाँ भी रहे, साथ-साथ रहे, एक साथ आये और अपने राज्य की स्थापना की। मुण्डाओं और खड़िया जाति का इतिहास भी बताता है कि वे रोहतास से ही आये। इन दोनों के इतिहास में पिपरीगढ़, नंदनगढ़, रोहतासगढ़ आदि का वर्णन हुआ है। अंग्रेजी शासन काल में 19वीं शताब्दी के विकासवादी युग में प्रत्येक जनजाति समुदाय ने अलग-अलग ढंग से अपने-अपने विकास का रास्ता तय किया है। फिर भी इस विविधता में भी आदिवासियों में आदिवासियों की एकता है। वर्त्तमान काल में झारखण्ड की कुल आदिवासी आबादी दो धार्मिक व सांस्कृतिक धाराओं में बँट गये हैं। जिससे सरना और ईसाई दो शब्दों का उद्‌भव एवं विकास हुआ है।

दूसरा अध्याय

प्राचीन काल

प्रचीन काल का तात्पर्य

प्राचीन इतिहास एक बीती बातों की कहानी है। यह काल अलिखित है और इस प्राचीन काल में बीती बातों को दोहराना अच्छा नहीं समझा जाता था। इसलिए इस इतिहास का काल वर्गीकरण वास्तविक नहीं है। फिर भी मानव सभ्यता के विकास के आधार पर अध्ययन की सुविधा के लिए इतिहास को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा गया है- प्राचीन काल, मध्यकाल और आधुनिक काल। अतः प्राचीन काल का तात्पर्य आधुनिक काल और मध्यकाल से पूर्व की अवधि (छठी सांतवीं शताब्दी) है।

प्राचीन काल का काल विभाजन

काल-विभाजन सभी क्षेत्रों में उत्पन्न उन व्यापक परिवर्त्तनों के आधार पर किया जाता है जो एक युग की समाप्ति तथा दूसरे युग के आगमन को सूचित करते हैं। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि विश्व के सभी देशों में या किसी भी देश के सम्पूर्ण क्षेत्रों में प्रागैतिहासिक काल की समाप्ति और प्राचीन काल का आगमन एक साथ नहीं हुआ है।

भारतीय इतिहास में प्राचीन काल

ई.पू. छठी शताब्दी और सातवीं शताब्दी तक के समय को प्राचीन काल काल कहा गया है। "विद्वान ऐसा मानते हैं कि 1400 ई. पू. से 600 ई. पू. तक भारत में उत्तर वैदिक काल था। 100 ईसा पूर्व के समय उत्तर वैदिक काल का मध्यकाल था। इस काल को महाकाव्य काल भी कह सकते हैं। इसके बाद आया बौद्धकाल फिर मौर्यकाल, शकशातवाहन काल, गुप्तकाल और उत्तर गुप्त काल।"

झारखण्ड के इतिहास में प्राचीन काल

जैसा कि भारत का प्राचीन इतिहास महाकाव्य काल से शुरू होता है। महाकाव्य काल का हमें क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। इसे प्रागैतिहासिक काल कहा जाता है। उसी तरह झारखण्ड का प्राचीन काल "आदिवासी युग" के दूसरे चरण से आरम्भ होता है। पाँचवी शताब्दी के अन्त में असुरों को परास्त कर झारखण्ड की राजनीतिक, आर्थिक आदि क्षेत्रों में मुण्डाओं का उत्कर्ष होने लगा। "धीरे-धीरे पहान का काम बढ़ गया और एक अन्य व्यक्ति की जरूरत महसूस हुई। पहान का धार्मिक कृत्य इतना रहने लगा कि बाहरी काम के लिए फुर्सत नहीं रहने लगा। तब कहना चाहिए कि राजनीतिक कामों के लिए मुण्डा का चुनाव किया गया।" छठी शताब्दी को इस क्षेत्र में मुण्डा का शासन आरम्भ हुआ। इसलिए, छठी शताब्दी को मुण्डा राजा के शासन आरम्भ के समय से ही प्राचीन काल का प्रारम्भ होता है और सातवीं शताब्दी में मुण्डा के पतन के साथ ही अन्त हो जाता है। यहीं से झारखण्ड में आदिवासियों का पूर्ण अधिकार-युग 'आदिवासी युग' का भी अन्त हो गया।

प्राचीन कालीन झारखण्ड के इतिहास को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बाँटा जा सकता है - **1.** पूर्व प्राचीन काल - सुतिया मुण्डा के शासन काल छठी शताब्दी को पूर्व प्राचीन काल कहा जा सकता है। **2.** उत्तर प्राचीन काल - मुण्डा राजा मदरा मुण्डा के शासन काल साँतवीं शताब्दी (संवत् 64 को नागवंशी राजा फणिमुकुट के शासन काल आरम्भ तक) की अवधि तक उत्तर प्राचीन काल का समय था।

पहले हम देख चुके हैं कि झारखण्ड में इतिहास काल (प्राचीन-काल) का आरम्भ असुरों की पराजय एवं मुण्डाओं के उत्कर्ष अवधि से है। मुण्डाओं ने पूर्व लिखित असुरों के गढ़ों में उन्हें खदेड़कर अपना अधिकार जमा लिया था। इनकी राजधानी सुतियाम्बे थी। इसी समय या प्राचीन काल में पूर्व सिङबोंगा राजा के आदेशानुसार सिङबोंगा राजा सुतिया मुण्डा ने अपनी र ाजधानी सुतियाम्बे में सर्वप्रथम सत्ता संभालने के लिए गोत्र पूनर्गठन का आयोजन किया था। क्योंकि इसके पूर्व मुण्डाओं के गोत्र कम थे। मुण्डा राजाओं के पहले द्राविड़ों और असुरों के शासन काल में प्रत्येक गढ़ एक गोत्र विशेष पर केन्द्रित था। जैसा कि मुण्डारी 'सोसोबोंगा' कथा से भी प्रमाणित होता है। उसी आधार पर मुण्डाओं ने भी प्रत्येक गढ़ को एक गोत्र पर

स्थापित करने के लिए गोत्रों की संख्या में वृद्धि करने के पश्चात् कायम की थी। उन मुण्डा राजाओं एवं गोत्र के गढ़ों का विवरण इस प्रकार है -

राजाओं के नाम	गोत्र	गढ़ो के नाम
1. डुका मुण्डा	होरो	धरवाड़गढ़
2. बेलो मुण्डा	कौआ	लोहरगढ़
3. लखो मुण्डा	धान	खानदेशगढ़
4. गंगु मुण्डा	ढेंचुवा	नंदरनगढ़
5. लेंबो मुण्डा	डुंगडुंग	खारवाड़गढ़
6. जितराय मुण्डा	जोजोवर	लचरागढ़
7. बिरसा मुण्डा	बारू	कलेंजगढ़
8. चम्पा मुण्डा	सांगा	चितौरगढ़
9. करमा मुण्डा	तिडू	नगरवाड़गढ़
10. गोरगामुण्डा	लुमुन	पालीगढ़
11. सोमरा मुण्डा	बूटू	पीपगढ़
12. नगु मुण्डा		नंदनगढ़
13. लेंटा मुण्डा	हेरेंज	बिनगा पहाड़गढ़
14. उदय मुण्डा	नाग	लकनीरगढ़
15. मंगता मुण्डा	ओड़ेकण्डीर	राजगृहगढ़
16. रैइया मुण्डा	टुटी	रूइदागढ़
17. सामु मुण्डा	बाघ	आजमगढ़
18. पोटा मुण्डा	हेमरोम	विगणगढ़
19. सनिका मुण्डा	डहंगा	सुरजुसगढ़
20. दुखु मुण्डा	हऊ (टोपनो)	पलूमगढ़
21. सालु मुण्डा	टुण्डू (मुण्डू)	हजारीगढ़

22. उदयपुरगढ़ और 23 रैपुरागढ़, इन दोनों गढ़ों को सुतिया मुण्डा ने जो महाराजा थे अपने पास रख लिया था। गढ़ों का ठीक तरह से संचालन करने हेतु उन्होंने गढ़ों को सात खण्डों में बाँटा था। प्रत्येक खण्ड तीन गढ़ों का था। जिसके सरदारों एवं गढ़ों के नाम इस प्रकार हैं - 1. बिरसा मुण्डा तथा उसके अधीन (क) कलेंजरगढ़ (ख) चितौरगढ़ और (ग) नगरवाड़गढ़।

2. डुका मुण्डा एवं उसके अधीन - (क) धरवाड़गढ़ (ख) पालीगढ़ और (ग) पीपरगढ़।

3. नागु मुण्डा और उसके अधीन - (क) बिनगागढ़ (ख) हल्दीनगर (ग) लकनीरगढ़।

4. गंगु मुण्डा और उसके अधीन - (क) नंदनगढ़ (ख) राजगृहगढ़ (ग) रूइदासगढ़।

5. लाको मुण्डा और उसके अधीन - (क) खानदेशगढ़ (ख) आजमगढ़ एवं बिनजागढ़।

6. बेलो मुण्डा और उसके अधीन - (क) सुरजुगढ़ (ख) लोहरगढ़ (ग) पालूम गढ़।

7. लेम्बो मुण्डा और उसके अधीन - (क) खरवाड़गढ़ (ख) लचड़ागढ़ और (ग) हजारीगढ़।

सुतिया मुण्डा के अधीन में उदयपुरगढ़ एवं रैयपुरगढ़ था। परन्तु वह उदयपुर (सिरिपरगना) में रहता था। मुण्डा राजाओं की हादरी की बैठक रैयपुरागढ़ में और कभी-कभी हजारीगढ़ या हजारीबाग में होती थी। किन्तु वार्षिक हादरी सभा रैयपुरागढ़ में ही होती थी। हादरी की ये सभाएं राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था में सुदृढ़ एवं सुलभ बनाने हेतु होती थी। सम्पूर्ण प्राचीन कालीन भारतीय इतिहास में इस समय क्रमशः बौद्धकाल, फिर मौर्यकाल, शक शातवाहन काल, गुप्त काल और उत्तर गुप्त काल था। परन्तु झारखण्ड में आदिवासी काल अर्थात् आदिवासियों का शासन था एवं यह सर्वत्र जंगलों से भरा हुआ था। इन्होंने जंगल साफ कर खेती करना आरम्भ किया था। गाँव-पंचायत, पड़हा, पड़हा मंडल और एक संसार की संगठनात्मक राजनीतिक राज्य व्यवस्था की स्थापना की थी। इनका अपना एक शासन था। जिसमें मुण्डा, उराँव आदिवासियों के रीति-रिवाज एवं संस्कृति आदि ही झारखण्ड का नियम कानून था। जल, जंगल, जमीन का मालगुजारी संस्कृति के आधार पर चंदा स्वरूप लिया-दिया जाता था और अब भी इनकी संस्कृति में यह प्रथा वर्त्तमान है। झारखण्ड की मालगुजारी उपर्युक्त भारतीय कालों में किसी को लेने का हक नहीं था। इसी आधार पर आज तक भी झारखण्ड के आदिवासियों की कोड़कर या भूंइयारी-खूँटकटी जमीन का मालगुजारी सरकारी भी नहीं लेती है और न खूँटकटी मालिक। आदिवासियों

या झारखण्ड में मालगुजारी अथवा राजस्व लगान लेने-देने की प्रथा तो मुगलकाल में मुगलों की देन है। उन्होंने किसानों की जमीन का सर्वे कर प्रत्येक प्लाट में लगान बाँध दिया। इसके पूर्व राजपूत काल या नागवंशी राजाओं के शासन काल में नागवंशियों ने शुरू किया था।

मुण्डा नागवंशी राजा को कुछ मालगुजारी पहुँचाता था और नागवंशी राजा दिल्ली के सुल्तानों को। जैसा कि मुण्डारी लोक कथाओं से प्रमाणित होता है। आदिवासियों द्वारा बनाई गई जमीनों को लूटा गया तथा इन्हें सताया जाता था जिससे वे अपने बने-बनाये खेत-गाँव छोड़कर अन्यत्र चले जाते थे। यह प्रथा अब भी वर्त्तमान है, आदिवासियों का भूस्वामीत्व समाप्त करने का राजनीतिक षढ्यंत्र रचा जा रहा है। परन्तु अब भी शहरों से सुदूर गाँवों की परती जमीन, जंगल-जल या गैर मंजुरूवा जमीन सरकार के अधीन है। फिर भी ऐसी जमीनों एवं जंगलों का पूर्ण अधिकार कोई खास गाँव की कुल जनता की है। "आठवीं शताब्दी के मध्य में उत्तरी भारत में एक और बड़ा साम्राज्य स्थापित हुआ- पालवंश का साम्राज्य। इसके पूर्व बंगाल गुप्त सम्राटों के अधीन था"। (सुगम भारतीय इतिहास, वीरेन्द्र कुमार सिंह, पृ. 22)

उत्तर प्राचीन काल

सुतिया मुण्डा के बाद सातवीं शताब्दी में सुतियाम्बे का दूसरा एवं अंतिम मुंडा सिंङबोंगा राजा मदरा मुंडा थे। परन्तु उपर्युक्त गढ़ों में अन्य मुण्डा सरदारों की चर्चा नहीं मिलती है। इस काल के मध्य या सातवीं शताब्दी के अंतिम चरण में बाहर के कई व्यापारी समुदाय आकर यहाँ बस गए थे। बौद्ध, जैन, आदि व्यापारी वर्ग तथा अन्य लोग यहाँ आकर बसने लगे। नागवंशावली के द्वारा यह भी पता चलता है कि मदरा मुण्डा के राजदरबार में दूबे मंत्री थे। उन्हीं के अनुसार राजकाज चलने लगे थे। इसी समय मदरा मुण्डा ने नागवंशी नाग और पार्वती नामक माता-पिता से जन्में बच्चे को गोद लिया था। उन्होंने उस बच्चे का नाम फणिमुकुट रखा।

"लालन पालन पुत्र समाना

.....

एक दिना वीह वित्त नृपाला ॥54॥
दूबे और पुरोहित पाशा
.....
पालन करवायहु मतिमाना ॥55॥
.....
करउ राज में केहि के राजा।
दुहु जन कहल विचरिकै ताहि करो नरपाल
दुबे पुरोहित हित वचन कहेउ दुअइ तहि काल ॥56॥

- नागवंशावली पृष्ठ 71

झारखण्ड के इतिहासकारों ने यहाँ एक प्रश्न खड़ा किया है कि फणिमुकुट राय नाम मुण्डारी भाषा से संबंधित नहीं है। यह आर्य भाषा से संबंध रखता है और दावा करते हैं कि सचमुच उराँव मुण्डाओं के पहले झारखण्ड में आर्य भाषा संस्कृति की जाति थी। फणिमुकुट राय सचमुच मुण्डारी नाम नहीं है। यह मदरा मुण्डा के हिन्दु मंत्रियों की देन है। जैसा कि ऊपर की पंक्तियों से स्पष्ट होता है। इसका मतलब यह नहीं कि यहाँ उराँव मुण्डाओं के पहले आर्य और गैर आदिवासियों की सभ्यता-संस्कृति थी। अगर इनके पहले गैर आदिवासी समुदाय रह रही थी, तो उसे ही आदिवासी की संज्ञा मिली हुई रहती। भारत या झारखण्ड में अंग्रेजों के आगमन से यहाँ की जनता अंग्रेजी भाषा-संस्कृति के अनुरूप अपने को ढालने लगी है तो इसका मतलब यह नहीं कि भारतीयों के पहले यहाँ अंग्रेजी सभ्यता-संस्कृति अवश्य थी। इसलिए इस प्रकार का दावा करना सटीक नहीं लगता है। उराँव और मुण्डा के कई दल यहाँ प्रागैतिहासिक काल, प्राचीनकाल और मध्य काल, अलग-अलग समय में एक साथ अलग-अलग दिशा से आए। खासकर उराँव और मुण्डा एक साथ आए वो भी सीमावर्ती क्षेत्रों से।

प्रागैतिहासिक काल में झारखण्ड का धर्मेशराजा या सिङबोंगा राजा उराँव था। प्राचीन काल में मुण्डा मध्यकाल में नागवंशी और मुगल काल में मुगल, आधुनिक काल में अंग्रेज, अंग्रेजों से आजादी मिलने के बाद झारखण्ड में पुनः आदिवासियों का साम्राज्य आया। लेकिन मुख्यतः 2 अगस्त 2000 ई. से आदिवासी और गैर आदिवासी राज्य का शासन प्रारम्भ हुआ। 2 अगस्त 2000 ई. तक बिहार राज्य में सम्मिलित और 15 नवम्बर 2000 ई. को बिहार

से अलग होकर झारखण्ड राज्य अपने-अस्तित्व में आ गया। नव गठित इस राज्य का प्रथम मुख्य मंत्री श्री बाबूलाल मरांडी और श्री प्रभात कुमार राज्यपाल थे। वर्त्तमान में झारखण्ड राज्य हमारा एक आर्दश राज्य है।

तीसरा अध्याय

मध्यकाल

मध्यकाल का तात्पर्य

प्राचीन काल तथा आधुनिक काल के बीच की अवधि मध्यकाल है।

मध्यकाल का काल विभाजन

पश्चिमी जगत में 500 ई. से लेकर 1500 ई. तक की अवधि को मध्यकाल माना जाता है। पर, भारतीय इतिहास में आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के समय को मध्य काल कहा जाता है।

अध्ययन की सुविधा के लिए मध्यकाल को दो भागों में बाँटा गया है - पूर्व मध्यकाल और उत्तर मध्यकाल ।

पश्चिमी जगत में मध्यकाल :-

1. पूर्व मध्यकाल - 500 ई. से लेकर 1000 ई. तक के बीच की अवधि को यूरोप के देशों में पूर्व मध्यकाल माना जाता है। इसे अंधकार युग भी कहा जाता है, क्योंकि इस युग में पश्चिमी यूरोप में चारों ओर विशृंखलता और निराशा थी।

2. उत्तर मध्यकाल - 1000 ई. से लेकर 1500 ई. (पुनर्जागरण काल तक) की अवधि को उत्तर मध्यकाल कहा जाता है। पुनर्जागरण काल से ही यूरोप में आधुनिक युग का आगमन हुआ।

भारतीय इतिहास में मध्यकाल

जैसा कि ऊपर कहा गया है भारत के इतिहास में आठवीं शताब्दी को मध्यकाल का आरम्भ और अठारहवीं शताब्दी को मध्यकाल का अन्त मान

लिया गया है।

अध्ययन की सुविधा के लिए इसे दो वर्गों में बाँटा गया है -1. पूर्व मध्यकाल और 2. उत्तर मध्यकाल।

1. पूर्व मध्यकाल - आठवीं शाताब्दी से लेकर तेरहवीं शाताब्दी तक की अवधि को पूर्व मध्यकाल कहा जाता है।

भारत के इतिहास में पूर्व मध्यकाल के अन्तर्गत प्रतिहार पाल और राष्ट्रकूट राजाओं के शासनकाल, उनके द्वारा कनौज के लिए किए गए पारस्परिक संघर्ष तथा उत्तर भारत के राजपूत राज्यों और दक्षिण के चोल साम्राज्य का इतिहास आता है।

2. उत्तर मध्यकाल - तेरहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक की अवधि को उत्तर मध्यकाल कहा जाता है। इसको निम्नलिखित दो भागों में बाँटा गया है।

(क) सल्तनत काल - 1206 ई से लेकर 1526 ई. तक की अवधि को सल्तनत काल कहा गया है। इस काल के अन्तर्गत दिल्ली के सुलतानों, बहमनी और विजयनगर राज्यों का इतिहास प्रमुख है।

(ख) मुगल काल - 1526 ई. में पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर ने इब्राहिम लोदी को पराजित कर भारतवर्ष में मुगलवंश की स्थापना की। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु हुई। उसके बाद मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ हुआ और अंग्रेजों का उत्कर्ष होने लगा। अतः 1526 ई. से लेकर अंग्रेजी राज्य की स्थापना तक की अवधि को मुगल काल कहा जाता है। इसके अन्तर्गत केवल मुगल साम्राज्य का ही इतिहास है।

झारखण्ड में मध्यकाल

झारखण्ड का इतिहास भारतीय इतिहास का एक अंग है। फिर इसका मध्यकालीन इतिहास भारतीय इतिहास के अनुसार है। झारखण्ड के मुण्डा राजा मदरा मुण्डा, मुण्डा और उराँवों ने 64 ई. में अपने बालपोष बेटा नागवंशी फणिमुकुट राय को यहाँ के महाराजा पद पर बैठाया। यह काल भारतीय इतिहास के अनुसार आठवीं शताब्दी के राजपूत काल या हिन्दू राज्य

की स्थापना का ही एक अंग था। नागवंशी राजा फणिमुकुट राय 19 वर्ष की अवस्था में मुण्डा राजाओं की राजधानी सुतियाम्बे की राजगद्दी पर बैठा। इसके साथ ही आदिवासी युग का अंत होकर झारखण्ड में मध्यकाल का आरम्भ हुआ और अठारहवीं शताब्दी को उसका अंत हो गया क्योंकि फणिमुकुट राय के राजा बन जाने के बाद मुण्डा राजाओं ने नागवंशी राजा की अधीनता को स्वीकार कर लिया। प्राचीन काल में बताये गए मुण्डाओं के गढ़ों में नागवंशी व वर्त्तमान सदान लोग राजा, मालिक बन बैठे। इसके अतिरिक्त गाँव, पड़हा, खूँटकटी-भूंइयारी के राजा के रूप में इन्होंने अधिकार जमा लिया। जैसा कि नागवंशावली की पंक्तियों से भी प्रमाणित है - "परगना कौराम्बै तेलिया नृपति, मारि रकसेल राज्य रहे... " एवं खतियानों में भी इसके प्रमाण हैं।

अध्ययन की सुविधा के लिए इसे भी दो भागों में बाँटा जाता है- 1. पूर्व मध्यकाल और 2. उत्तर मध्यकाल।

पूर्व मध्यकाल

आठवीं शताब्दी (64 ई.) से लेकर तेरहवीं शताब्दी (1136 ई.) तक की अवधि पूर्व मध्यकाल है।

झारखण्ड के इतिहास में पूर्व मध्यकाल के अन्तर्गत नागवंशी, राय, राजपूत, तेलिया आदि राजाओं के शासन काल, उसके द्वारा कनौज के लिए किए गए पारस्परिक संघर्ष तथा उत्तर भारत के राजपूत राज्यों और दक्षिण भारत के चोल साम्राज्य का इतिहास आता है।

इसके पश्चात् "उत्तर मध्यकाल के 1206 ई. में मुस्लिम शासन की स्थापना के बाद बहुत से हिन्दु राजवंशों ने छोटानागपुर में आकर अपने-अपने राज्य स्थापित किये। पहाड़ों और जंगलों से अनाच्छादित होने के कारण यह इलाका मुस्लिमों आक्रमणकारियों के लिए दुर्गम था। इसलिए तुर्क अफगान शासन काल में छोटानगापुर में कई हिन्दु राज्यों की स्थापना हुई, जिनमें नागवंशी, रक्सेल, सिंह और रामगढ़ राज्य उल्लेखनीय हैं। इस सभी राजवंशों ने अपने को क्षत्रिय कहा। इन्हीं राजवंशों के सरंक्षण में आर्यावत से पुरोहित,

सैनिक, शिक्षक, व्यापारी, बुनकर, लोहार, बढ़ई, तथा अन्य व्यवसायी यहाँ आकर बसने लगे। (फादर बुल्के स्मृति ग्रंथ, पृ. 237)

यही कारण है कि झारखण्ड की सदान जाति अपने को नागवंशी मानते हैं। ये नागवंशी ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं राजपूत हैं।

पहले भी कहा जा चुका है कि मुण्डारी मौखिक लोक कथा के अनुसार फाणिमुकुट राय मदरा मुण्डा का धांगर था। जिनका हुनर एवं चरित्र देखकर उसे झारखण्ड का या सुतियाम्बे का महाराजा सिंङबोंगा के लिए योग्य घोषित किया। इसके राज्यभिषेक के साथ ही साथ आदिवासियों का प्रशासनिक अधिकार छीना गया। इम्पीरियल गेजेटियर ऑफ इंडिया में लिखा हुआ है कि "पूर्व में छोटानागपुर देश मुण्डा और उराँव लोगों के अधीन था। उस समय ... नहीं होता था। इस देश को झारखण्ड भी कहते हैं। फिर नागवंशियों ने इस देश पर अधिकार किया। (प्रद्युमन सिंह, नागवंश, खैरागढ़ राज परिवार, पृ. 74-75)

इसी काल में नागवंशी राजाओं ने झारखण्ड के गढ़ों परगनाओं में राजा पद के लिए बाहर के राजपूतों को आमंत्रित किया। वे (राजपूत) मुण्डाओं के गढ़ों के राजा बन गये। जिसके कारण आदिवासियों में असंतोष की भावना जगी। फिर, जब फणिमुकुट की शादी में मदरा मुण्डा ने स्थानीय जनता के साथ-साथ उदयपुर, सोनपुर, नागपुर के नागवंशी राजाओं एवं रोहतासगढ़ के पूर्व उराँव सिंङबोंगा राजा, मुण्डाओं, कौराम्बे और रक्सेल के तेलिआ नृपतियों को निमंत्रण या नेवता दिया था -

"उदयपुर सोनपुर नागपुर माहं यते आय सब
तेते केते बरणि बखानिअै
अमित उराँव मुण्डा गाँव गाँव ठाँव-ठाँव
परहा प्रति रोहिदासइते आयो जानिअै
परगना कौरम्बै तिलिआ नृपति
मारि रकसेल राजा रहे तेउ परिचानिअै
वेणी भणे गणे कोन कोल्ह नेवते आय घने
मदरा महीप भवन भीर भरे कानिअै ॥58॥

- नागवंशावली, पृ. 72

उसने उदयपुर, सोनपुर, नागपुर के राजपूत राजाओं को पहचान लिया। रोहतास के उराँव-मुण्डा आदिवासी (कोल) आ गए हैं। इसकी भी उसे जानकारी मिली। परन्तु कौराम्बै एवं रक्सेल के तेलिया राजाओं को महाराजा फणिमुकुट राय पहचान नहीं सका। उसे उन्होंने आदिवासी उराँव-मुण्डा ही समझकर घृणित शब्दों में (जो आदिवासियों के लिए प्रयोग होता रहा है।) फटकारते हुए कहा "वेणी भणे गणे कौन कोल्ह नेवते आय घने, मदरा महीप भवन भीरे, भरे कानिअै" अर्थात्- इतनी बड़ी संख्या में कौन कोल नेवता आया है, मदरा मुण्डा की महिमा भवन के समीप भर गये हैं। इस भाँति उराँव और मुण्डाओं के सारे अधिकार तो लूटे ही गए जगह-जगह पर उन्हें अपमानित भी होना पड़ा। इस नागवंशी और सदानों के राज्यकाल से असंतुष्ट आदिवासी उराँव-मुण्डाओं ने सांस्कृतिक व धार्मिक आंदोलन चलाने का प्रस्ताव मदरा मुण्डा के पास रखा। अंततः उस समय की राजधानी सुतियाम्बे में मदरा मुण्डा को "संसारी पूजा" का आयोजन करना पड़ा था। इस पूजा में रोहतासगढ़ के उराँव एवं पालीगढ़ के मुण्डाओं ने मुख्य रूप से शामिल होकर पूजा का प्रतिनिधित्व किया। पूजा में इन उराँव और मुण्डाओं ने मदरा मुण्डा से अपनी पारंपरिक राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एकता एवं अस्मिता-अस्तित्व को बनाए रखने का अनुरोध किया था। जब रोहतासगढ़ के उराँव और पालीगढ़ के मुण्डाओं की आबादी ने अपनी जातियों के संख्या बहुल क्षेत्र सुतियाम्बे में प्रवेश किया तब इनकी (आदिवासियों) की जमघट एवं एकता को देखकर नागवंशी राजाओं को चिंता हुई। उन्होंने इसी काल में सुतियाम्बे को चतुर्थ राज्य मदन राय के बाद 346 ई. में हटाकर मुण्डाओं की उपराजधानी चुटिया को बनाया। जो नागवंशियों की दूसरी राजधानी चुटिया 1131 ई. के तेरहवीं शताब्दी या पूर्व मध्यकाल के अन्त तक थी।

उत्तर मध्यकाल

तेरहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक की अवधि को उत्तर मध्यकाल कहा जाता है। झारखण्ड में तेरहवीं शताब्दी (1136 ई. 1764 ई.) अठारहवीं शताब्दी तक के समय को मध्यकाल कहा जाता है। इसको अध

ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बाँटा गया है।

(क) सल्तानत काल - 1206 ई. से लेकर 1526 ई. तक की अवधि को सल्तनत काल कहा जाता है। इस काल के अन्तर्गत दिल्ली के सुल्तानों, बहमनी और विजयनगर राज्यों का इतिहास प्रमुख है। झारखण्ड में 1136 से लेकर 1571 ई. तक कर्णकाल या नागवंशी कर्णों का साम्राज्य मिलता है। जिसकी राजधानी खुखरा थी।

(ख) मुगलकाल - 1526 ई. में पानीपत के प्रथम युद्ध में बाबर ने इब्राहिम लोदी को पराजित कर भारतवर्ष में मुगलवंश की स्थापना की। इस काल में झारखण्ड में शाह लोगों का शासन आया। इन्होंने 1571 ई. में खुखरा से राजधानी बदल कर ढोंएसा को राजधानी बनाया। यहाँ का या इस काल का प्रथम नागवंशी राजा दुर्जन शाह या साल था। जिन्होंने 1571 ई. से 1589 तक शासन किया। जब दुर्जन शाह की राजधानी खुखरा थी। इन्होंने प्रागैतिहासिक काली खुखरा के आधार पर खुखरा या पुरानी राँची से पश्चिम में मुगलों के आक्रमण से बचने के लिए खुखरा राजधानी की स्थापना की थी। तब ढोंएसा में मुण्डा हीरा राजा नागवंशी राजा के नीचे था। हीरा राजा कर वसूल कर महाराजा दुर्जन शाह को पहुँचाता था, दुर्जन शाह दिल्ली के मुगलों को। दुर्जन शाह के शासन काल में ही झारखण्ड में मुगलों का आगमन हुआ। 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु हुई। उसके बाद मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ हुआ और अंग्रेजों का उत्कर्ष होने लगा। अतः 1526 ई. से लेकर अंग्रेजी राज्य की स्थापना तक की अवधि को मुगल काल कहा जता है। इसके अन्तर्गत केवल मुगल साम्राज्य का इतिहास है। परन्तु झारखण्ड के मुगल शासन काल के इतिहास में केवल मुगलों का नहीं रहा है। नागवंशी राजा झारखण्ड में चन्दा स्वरूप प्रजा से मालगुजारी लेते थे। जिसे दिल्ली के सुलतानों एवं बादशाहों को पहुँचाते थे। एक बार दुर्जन शाह ने मालगुजारी जमा नहीं किया था। जिस कारण मुगल बादशाहों ने उसे बारह वर्षों तक ग्वालियर जेल में बन्दी रखा।

झारखण्ड प्रदेश में मुगलों का साम्राज्य नागवंशी राजा दुर्जन शाह के शासन काल 1571 से 1589 ई. के बाद आरम्भ हुआ। मुगलों ने हीरे की लालच में आकर दुर्जन शाह को जेल से मुक्ति दे दी और उनकी इच्छा झारखण्ड को देखने की हुई। इस भ्रमण से यहाँ का हीरा और प्राकृतिक सौंदर्य

ने मुगलों को काफी आकर्षित किया। "1615 ई. में इब्राहिम खाँ बिहार का सूबेदार नियुक्त हुआ। बिहार आते समय उसे जहाँगीर ने आदेश दिया था कि वह हीरों के क्षेत्र बिहार के जंगल में स्थित कोकराह (छोटानागपुर प्रदेश) को जीत कर साम्राज्य में मिला ले। अब तक कोकरा का राजा सभी आक्रमणों को विफल करता आ रहा था। बादशाह की आज्ञा के अनुसार इब्राहिम खाँ ने कोकरा पर (1616 ई.) आक्रमण किया।" इस आक्रमण के पश्चात् उसने झारखण्ड को जीत कर अपने अधिकार में मिला लिया। फिर भी मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद भी झारखण्ड या कोकरा प्रदेश का मुख्य उत्तराधिकारी नागवंशी ही था। यही परिपाटी अंग्रेजी शासन काल में (1957 ई.) भी बनी रही।

इस काल में विभिन्न नागवंशी राजाओं ने अपनी-अपनी सुविधाओं एवं बाहरी आक्रमणों से बचने के लिए अपने-अपने शासन काल में विभिन्न क्षेत्र को झारखण्ड की राजधानी निश्चित करते रहे। जिनकी अंतिम राजधानी (महापड़हा) रातुगढ़ है। जिसका विवरण इस प्रकार है -

झारखण्ड का प्रथम नागवंशी राजा फणिमुकुट राय थे। इन्होंने 64 ई. से 121 से 215 तक शासन किया। इसके बाद 215 से 270 तक मुकुट राय, 270 से 211 तक घण्ट राय और 311 से 364 तक मदन राय का शासन काल था। इनके शासन काल में झारखण्ड की राजधानी सुतियाम्बे थी।

जैसा की ऊपर बताया गया है; नागवंशी राजा झारखण्ड की राजधानी को बदलते गए। इन बदलावों पूर्व शासकों की राजधानी की पुनरावृति ही हुई है। पाचवां राजा प्रताप राय 364 में गद्दी पर बैठते ही झारखण्ड की राजधानी को सुतियाम्बे से हटाकर मुण्डाओं की उपराजधानी चुटिया को राजधानी बनाया। चुटिया की उपराजधानी की चर्चा नहीं मिलती है। लेकिन उस काल में भी अवश्य ही उपराजधानी रहे होंगे। इस प्रकार चुटिया के राजाओं का विवरण इस प्रकार है :-

प्रताप राय	364 से 391 विक्रम सम्वत
कर्न्दय राय	391 से 429 "
उदय मणि राय	429 से 454
जय मणि राय	454 से 483

श्री मणि राय	483 से 518
फणिराय	518 से 564
अहिनन्द राय	564 से 586
जयइन्द्र राय	586 से 601
हरि राय	601 से 639
गजराय राय	639 से 665
सुन्दर राय	665 से 673
मुकुन्द राय	673 से 691
उदय राय	691 से 794
जगत राय	794 से 817
मगन राय	817 स 849
मोहन राय	849 से 907
गज घण्ड राय	907 से 943
चंदन राय	943 से 970
आनन्द राय	970 से 1007
श्रीपति राय	1007 से 1035
अगनन्द राय	1035 से 1042
नृपेन्द्र राय	1042 से 1085
गंधर्व राय	1085 से 1136

गंर्धव राय के पश्चात् झारखण्ड के महाराजा भीम कर्ण बने। इसके साथ ही राय वंश का शासन अन्त हो गया और कर्णों का शासन प्रारम्भ हुआ भीमकर्ण ने गद्दी पर बैठते ही झारखण्ड की राजधानी चुटिया से बदलकर प्रागैतिहासिक राजधानी खुखरा के नाम से ही इस क्षेत्र के अंतिम भाग पश्चिम में "खुखरा राजधानी" की स्थापना की। भीम कर्ण का शासन 1136 से 1170 तक था। 1170 से 1217 तक यश कर्ण और और 1217 से 1254 तक जय कर्ण ने राज किया। 1254 से 1272 तक गोकर्ण और 1272 से 1303 तक हरि कर्ण, 1303 से 1341 तक शिव कर्ण, 1341 से 1368 तक वेणु कर्ण, रेणु कर्ण 1368 से 1396 तक, ढोहलु कर्ण 1396 से 1426 तक, शिवदास कर्ण 1426 से 1442 तक, उदय कर्ण 1442 से 1492 तक, पृथ्वी कर्ण 1492 से

1510 तक, प्रताप कर्ण 1510 से 1528 तक, छत्र कर्ण 1528 से 1555 तक, विराट कर्ण 1555 से 1560 तक और फेणु कर्ण खुखरा का एवं कर्ण वंश का अंतिम राजा था।

कर्ण कुल के बाद झारखण्ड का महाराजा या धर्मेशराजा या सिंङबोंगा राजा दुर्जन शाह बना। इन्होंने भी गद्दी पर आसीन होने के साथ ही साथ झारखण्ड की राजधानी खुखरा से हटाकर ढोंएसा में स्थापित किया। दुर्जन शाह या साल का शासन 1571 से 1589 था। इसके बाद 1589 से 1627 तक बैरिशाह, मधुकर शाह 1627 से 1642, देवशाह 1642 से 1672 तक ढोंएसा राजधानी का अंतिम राजा था। इसके बाद शिवनाथ शाह झारखण्ड का महाराजा नियुक्त हुआ इनके समय में झारखण्ड की राजधानी ढोंएसा से बदल कर पालकोट चला गया। इनका शासन काल 1782 से 1791 तक था। इसके पश्चात् उदयनाथ शाह 1791 से 1798 तक, श्याम सुन्दर शाह 1798 से 1803 तक, बलिराम शाह 1803 से 1806 तक, मणिनाथ शाह 1806 से 1820 तक। शाह उपाधि वालों के बाद दृपनाथ शाहदेव 1820 से 1846 तक, देवनाथ शाहदेव 1846 से 1862 तक और गोविन्दनाथ शाहदेव 1862 से 1878 तक यहाँ का अंतिम महाराजा था।

पुनः 1878 से 1925 तक झारखण्ड की राजधानी में परिवर्तन हुआ और जगन्नाथ शाहदेव ने अपने शासन काल में पालकोट में ही भौरों को अपनी राजधानी बनाया। इसके बाद झारखण्ड का महाराजा प्रताप उदय नाथ शाहदेव 1925 से 2000 तक था। इन्होंने गद्दी पर बैठते ही अपनी नई राजधानी रातुगढ़ में स्थापित किया। यह नागवंशी राजाओं का अंतिम गढ़ एवं राजधानी है। 2000 के बाद झारखण्डी परम्परानुसार यहाँ के अंतिम नागवंशी राजा शरणनाथ शाहदेव को माना जाता है। लेकिन 1947 ई. की आजादी तथा 1957 में जमीनदारी भेष्ट होने के बाद रातु नागवंशी महाराजा का शासन झारखण्ड में नहीं चलता है। अब यह सिर्फ आदिवासी और सदानों की सांस्कृतिक पहचान की अवशेष के रूप में रह गया है।

इसी भाँति प्रागैतिहासिक काल में झारखण्ड में उराँवों की पड़हा व्यवस्था उनके शासन में परिवर्तन होते ही उसका अस्तित्व उराँव पड़हा के रूप में चिन्हित हुआ। पुनः प्राचीन काल में मुण्डा महाराजा के शासन काल में पड़हा मुण्डा मानकी जो सम्पूर्ण वृहत् झारखण्ड की राजनैतिक शासन पद्धति

थी। मध्यकाल में नागवंशी राजाओं के हाथ में झारखण्ड का बगडोर चले जाने के पश्चात् मुण्डा मानकी व्यवस्था मुण्डा जाति तक ही सीमित हो गयी। नागवंशियों ने मुण्डा-मानकी (पड़हा पट्टी) से परगनाइत शासन व्यवस्था को कायम किया था। यह व्यवस्था आजादी भारत के जमीनदारी भेष्ट होने तक थी। इसके बाद भारत और बिहार राज्य सरकार की पंचायत राज व्यवस्था कायम है।

अध्ययन के स्रोत

प्राचीन काल की तुलना में मध्यकालीन झारखण्ड के इतिहास के लिए अधिक स्रोत उपलब्ध हैं इन स्रोतों को चार भागों में बाँटा जा सकता है - 1. पुरातत्त्व 2. वास्तुकला 3. साहित्य और 4. विदेशियों के यात्रा वृत्तांत।

1. पुरातत्त्व - "उत्खनन से प्राप्त सामग्री स्मारक, सिक्के, भवनों के भग्नावशेष, अभिलेख आदि पुरातत्त्व के अन्तर्गत आते हैं। सल्तनत युग में अनेक भवनों का निर्माण हुआ। उनके भग्नावशेषों को देखकर उस युग की प्रगति एवं राज्य की समृद्धि का अनुमान हो जाता है। उस युग के पुरातत्त्व से संबंधित अनेक ग्रन्थ, मुस्लिम पुरालेख, कर्नाटक पुरालेख, भारतीय पुरालेख आदि प्रकाशित हो चुके हैं। मुद्राशास्त्र गुटखा भी प्रकाशित हो चुका है। उत्खनन से प्राप्त सिक्कों से भी उसकी जानकारी प्राप्त होती है।

मुगलकालीन पुरातात्त्विक स्रोतों में प्रमुख हैं- सिक्के, स्मारक एवं उनके अवशेष। मुगलकाल में विभिन्न शासकों ने विभिन्न आकार-प्रकार के अनेक मूल्य के धातु के सिक्के ढलवाए। इन्हें देखकर शासन विशेष की आर्थिक स्थिति का अंदाज लगाया जा सकता है।"

उपर्युक्त पुरातत्त्व भारत के संदर्भ में अपेक्षित हैं। तब (सल्तनत कालीन) झारखण्ड इन पुरातत्त्विक सामग्रियों से दूर था। उस युग के पुरातत्त्व से संबंध केवल सिक्कों तक ही रहे। झारखण्ड मे उस समय नागवंशी राजा का राज्य था। इनके गढ़ एवं घर परिवार अन्य सामान्य आदमी की तरह थे। केवल नाम एवं काम के राजा होते थे। अन्य बाहरी राज्यों या देशों के राजाओं की ठाट-बाट इनमें नहीं थी। यहाँ की जनता के पास पर्याप्त सिक्के भी नहीं

होते थे। वे अपने राजा को मालगुजारी के रूप में धन-अन्न ही देते थे। यही कारण है कि झारखण्ड की धरती में रातुगढ़, नवरत्नगढ़ आदि चन्द स्मारकों के ही अवशेष हैं। इसकी चर्चा हम बाद में करेंगे।

2. वास्तुकला - "कुतुबमीनार, अलाई दरवाजा, फिरोजशाह कोटला, जोधपुर का लाल दरवाजा आदि सल्तनत काल के प्रमुख स्मारक हैं। इन सभी से उस समय की वास्तुकला का जो विकास हुआ उसका अंदाजा तत्कालीन किलों, मस्जिदों आदि को देखकर लगाया जा सकता है। इनमें अनेक जैसे - आगरा का किला, दिल्ली का लाल किला, फतेहपुर सिकरी, जामा मस्जिद, ताजमहल आदि अभी भी अच्छी स्थिति में हैं। इनमें मुगलों की कलात्मक अभिरुचि एवं आर्थिक सम्पन्नता का अनुमान लगाया जा सकता है।"

झारखण्ड में दिल्ली के सुलतानों ने दुर्जन शाह की गिरफ्तारी की थी। उसने मुक्ति के लिए एक टुकड़ा हीरा मुगल बादशाहों को दिया था। उस हीरे का असली-नकली की पहचान करने के क्रम में वह जमीन के अंदर घुस गया। फिर उस हीरे के टुकड़े को दुर्जनशाह द्वारा निकाले जाने की जादूई शाक्ति ने मुगलों को आकर्षित कर दिया। उसे झारखण्ड देखने की लालसा जागृत हुई। मुगलों ने दुर्जन शाह को जेल से मुक्ति देकर उनके साथ झारखण्ड का दौरा किया। 1615 ई. में बिहार के सूबेदार इब्राहिम खाँ ने जहाँगीर के आदेश से झारखण्ड को जीत कर अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद से मुगलों की सहायता से सर्वप्रथम यहाँ के हिन्दुओं के लिए कई मंदिर बने तथा गढ़ बने। सबसे पहले 1665 ई. में बोड़ेया का राधाकृष्ण मंदिर बना। इसके बनने में चौदह हजार एक रुपया खर्च हुआ। जैसा कि वहाँ के शिलालेख से पता चलता है। 1686 ई. में चुटिया का मंदिर बना और पूरी की नकल में ठाकुर ऐनीनाथ शाहदेव ने 1691 ई. में जगरनाथ की पहाड़ी पर मंदिर बनवाया। इसके बाद 1736 ई. में तिमली का गढ़ और 1711 ई. में ढोंएसागढ़ बना।

3. साहित्य - मुगल काल अर्थात् झारखण्ड में मुगलों के अधिकार में आने के बाद इन्होंने इस प्रदेश का इतिहास लिखा। उन्होंने अपने ग्रंथों में पूर्व प्रचलित नामों का ठेठ उच्चारण नहीं कर पाने के कारण इसके कई नाम दिए। खुखरा प्रदेश को आइने अकबरी में खंकारा कहा, कुकरा को कोकराह अकबरनामा में तथा तुजुक-ई-जहाँगीरी में भी जहाँगीरी प्रदेश में खंकारा ही लिखा है। ऊराँव भाषा में खुखरा को खंकारा और मुण्डा भाषा में कुकरा को

कोकरा कहा गया। 18वीं शताब्दी के मध्य में छोटानागपुर के उस भाग को जो पुरानी राँची जिला था, जिसे मुगल काल में कोकराह या कुकरा कहा जाता था। इसके अलावे इस काल में यहाँ के लोक साहित्य के मौखिक विकास को बल मिला। मध्यकाल में नागवंशी राजाओं का नागवंशावली लिखा गया।

4. विदेशियों के यात्रा वृत्तांत - जैसा कि ऊपर लिखा गया है मध्यकाल में दुर्जन शाह को जेल से रिहा करने के बाद उनके साथ मुगलों ने झारखण्ड की यात्रा की। कुकरा का सही-सही उच्चारण नहीं कर पाने के कारण उन्होंने इसे कोकराह कहा। 1615 ई. में बिहार के सूबेदार इब्राहिम खाँ को आदेश दे दिया कि बिहार के जंगल के हीरे वाले क्षेत्र को अपने अधिकार में कर लो। इस आदेश का पालन कर उसने 1616 ई. में कोकरा को जीतकर अपने अधीन कर लिया।

चीनी यात्री फाहियान ने छोटानागपुर को 'कुकुट पाद' कहा। वहीं दूसरे चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने पूरे छोटानागपुर को 'किए-लो-ना-सू-फा-लाना' अर्थात् किरण-सुवर्ण कहा।

चौथा अध्याय

आधुनिक काल

आधुनिक काल का तात्पर्य

पहले लिखा जा चुका है कि भारतीय इतिहास में आठवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक के समय को मध्यकाल कहा गया है। इसलिए आधुनिक काल मध्यकाल के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ की अवधि से अब तक का है। आधुनिक का शाब्दिक आर्थ है- वर्तमान।

विश्व के इतिहास में आधुनिक काल

भारत के आधुनिक काल का 'इतिहास आधुनिक विश्व इतिहास का ही एक अंग है। आधुनिक भारत पश्चिमी सम्पर्क का परिणाम है।

विश्व के इतिहासकारों के अनुसार "यह कहना कठिन है कि मानव सभ्यता के इतिहास में मध्यकालीन युग का अन्त कब हुआ और आधुनिक युग का प्रारम्भ कब से हुआ? मध्यकालीन युग तथा आधुनिक युग के बीच कोई सीमा रेखा नहीं खींची जा सकती है। कुछ विद्वान सन् 1453 ई. से आधुनिक काल का आरम्भ मानते हैं। इस वर्ष जर्जर पूर्वी जर्मन साम्राज्य की राजधानी कुस्तुनतुनियाँ पर तुर्की ने अधिकार कर लिया था। कुस्तुनतुनियाँ उस समय यूरोप के ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र था। वहाँ यूरोपीय विद्वानों, विचारकों तथा कलाकारों का जमघट था। तुर्की के अत्याचार से उन्होंने कुस्तुनतुनियाँ से भागकर विभिन्न पश्चिमी यूरोपीय देशों में आश्रय लिया। उनके संपर्क से साधारण यूरोपीय जनता में ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन की जिज्ञासा जागी। यूनानी साहित्य का अध्ययन बड़े ही व्यापक ढंग से किया जाने लगा, जिसमें लोगों की विचारधारा में क्रांतिकारी परिवर्त्तन हुए। फिर कुस्तुनतुनियाँ के पतन से यूरोपीय व्यापार को धक्का लगा और तुर्की ने व्यापार के स्थल मार्ग पर अपना अधिकार जमा लिया और अन्य जातियों के

व्यापारियों को उसके उपयोग की अनुमति नहीं दी। फलतः अब व्यापार के लिए समुद्री मार्गों की खोज होने लगी। इस क्रम में कई देशों का पता लगा। इसी कारण से कुछ विद्वान 1453 से आधुनिक युग का आगमन मानते हैं। क्योंकि इसी वर्ष कोलंबस ने अमेरिका का पता लगाया था। इसे भी एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक घटना की संज्ञा दी जाती है। क्योंकि इस कार्य से यूरोपीय जीवन में आमूल परिवर्तन हुए।

यूरोप वासियों की कल्पना में सबसे आकर्षित करनेवाला देश भारत ही था। वे भारत पहुँचकर अकूत सम्पदा बटोरना चाहते थे। इसी उद्देश्य से विश्व के आधुनिक युग के आरम्भ काल में पुर्तगाल के राजा ने वास्कोडिगामा के नेतृत्व में एक अभियान दल भेजा। सन् 1498 ई. में वह बन्दरगाह कालीकट पहुँचा।

निस्संदेह उपर्युक्त सभी तिथियाँ युगान्तकारी थीं। फिर भी यह कहना कि उसी समय से आधुनिक काल का आरम्भ हुआ, ठीक नहीं जँचता। वस्तुतः इतिहास के प्रत्येक युग की अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं और कुछ लक्षण होते हैं। जब नये-नये लक्षण प्रकट होते हैं, उसका प्रभाव महत्त्वपूर्ण होता है। तब यह समझा जाता है कि एक युग का अन्त और दूसरे युग का प्रारम्भ होने लगा है। इतिहास काल के आधुनिक युग के साथ भी यही स्थिति है।

हम देख चुके हैं कि विश्व में आधुनिक काल की शुरुआत सर्वत्र एक साथ नहीं हुई। यही कारण है कि इस युग के काल निर्धारण के संबंध में अलग-अलग मत मिलते हैं। उसी तरह झारखण्ड में आधुनिक काल का आरम्भ 12 अगस्त 1765 ई. से माना जाना चाहिए जब बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेजों को मिली। झारखण्ड भी उसी के अधीन में था। अतः झारखण्ड में अंग्रेजों के आगमन के साथ एवं भारतीय इतिहास के अनुसार 19वीं शताब्दी के आरम्भ से अब तक का समय आधुनिक काल है।

झारखण्ड में आधुनिक काल का विभाजन

झारखण्ड के आधुनिक काल को अध्ययन की सुविधा के लिए तीन भागों में बाँटा जा सकता है - (क) पूर्व आधुनिक काल (1765-1947) तक (ख) मध्य आधुनिक काल 15 नवम्बर 2000 तक (ग) वर्त्तमान या उत्तर

आधुनिक काल (15 नवम्बर 2000 से आरम्भ)।

(क) पूर्व आधुनिक काल (1765-1947)

मुगल काल के बाद अंग्रेजी शासन काल में छोटानागपुर राज या झारखण्ड में अंग्रेजों, ईसाई मिशनरियों के आगमन एवं उसके शासन काल को यहाँ के राजनीतिक दृष्टिकोण से "छोटानागपुर राज" को पूर्व आधुनिक काल माना जा सकता है।

छोटानागपुरी राज का तात्पर्य - "भारत में ब्रिटिश शासन की नींव क्लाइव द्वारा डाली गई। वह भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का प्रतिनिधि था। क्लाइव ने 1757 ई. में पलासी की लड़ाई में सिराजुद्दौला को हराया। 12 अगस्त 1765 को बंगाल, बिहार और उड़ीसा के दीवानी अधिकार प्राप्त कर उसने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को स्थिरता प्रदान की तथा राजनैतिक दर्जा दिया। इस समय झारखण्ड प्रदेश में बंगाल, बिहार और उड़ीसा भी सम्मिलित था। झारखण्ड के छोटानागपुर का मुख्य केन्द्र वर्त्तमान लोहरदगा जिला था। राँची जिला बनने के पहले भी यह उस समय का जिला था। बाद में राँची जिला हुआ और फिर लोहरदगा को भी अलग जिला का दर्जा मिला। इसकी राजधानी कलकत्ता (कोलकाता) थी, जो भारत में अंग्रेजों की प्रथम राजधानी भी थी।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी बंगाल का प्रथम गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स (1775 से 1786 ई. तक) था। इसके बाद लार्ड कार्नवालिस 1786 से 1793 ई., सर जॉन मूर 1793 से 1798 ई., लार्ड बेलेजन्ती 1798 से 1805 ई., सर जार्ज बारलो 1805 से 1807 तक, लार्ड मिन्टो 1807 से 1813, मार क्विस ऑफ हेस्टिंग्स 1813 से 1823, लार्ड एम हर्स्ट 1823 से 1835, लार्ड विलियम वेटिंग 1835 से 1836 (इन्होंने सती प्रथा का अंत किया), लार्ड आकलैंड 1836 से 1842 ई. लार्ड डलहौजी 1848 से 1856 तक (इसके शासन काल में अंग्रेजों ने द्वितीय सिक्ख युद्ध (1848-49), द्वितीय वर्मा युद्ध (1852-53) और लार्ड केनिंग 1856 से 1858 तक था। यह भारत का अंतिम गर्वनर जनरल था। यहीं से भारत का 1857 का प्रथम स्वतंत्रता संग्राम शुरू हुआ। वहीं झारखण्ड में ब्रिटिश शासन एवं जमीनदारी विरोधी आन्दोलनों की शुरुआत अंग्रेजी शासन की स्थापना के साथ ही आदिवासियों के द्वारा हुई। जिसकी चर्चा बाद

में किया जाएगा।

उपर्युक्त गर्वनर जनरलों के शासन काल में झारखण्ड में नागवंशियों या सदानों और मुगलों का ही शासन था। यहाँ का मुख्य उत्तराधिकारी नागवंशी राजा था। इसका शासन मध्यकाल से आरम्भ होकर 1947 में आजाद भारत के 1953 ई. में जमींदारी भेष्ट होने तक था। झारखण्ड के विभिन्न गढ़ों, परगनाओं में नागवंशी, सदान एवं मुसलमान ही जमीनदार, ठीकेदार, सरदार आदि बने हुए थे। ये अंग्रेजी हुकूमत अनुसार मनमानी राज करते थे। "ऐतिहासिक एवं भौगोलिक पृष्ठभूमि पर गौर करने पर यह पता चलता है कि रोहतास के पतन के बाद कुड़ुख लोग जहाँ-जहाँ भी गए उन्हें जमींदारों की बेगारी करनी पड़ी या फिर उनका दासत्व स्वीकारना पड़ा।" (जोसेफ कुण्डुलना, छोटानागपुर के आदिवासी, पृ. 164)

जैसा कि पहले नागवंशी राजाओं के शासन काल में आदिवासियों का अधिकार छीना गया। इसके बाद मुगलों द्वारा इनकी जमीनों पर मालगुजारी बाँधे गए। पुनः अंग्रेजी शासन काल में अंग्रेजों के द्वारा झारखण्ड की भूमि और कर व्यवस्था में भारी परिवर्तन किया गया। "लोहरा जाति के पास पर्याप्त जमीन नहीं है। लोहरा जाति के साथ राजा, जमींदारों, मुण्डा और मानकियों ने अन्याय किया है। इस जाति को एक सुनियोजित साजिश के तहत जमीन के अधिकार से वंचित कर दिया गया है।" (सनिका मुण्डा, राँची एक्सप्रेस, अखरा, बुधवार 11 फरवरी 2004)

इस बदलाव से एक बार फिर आदिवासियों में आक्रोश पैदा हुआ। परिणामतः यहाँ के आदिवासियों ने जल, जमीन और जंगल की रक्षा के लिए विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग समय में कई आंदोलनों को जन्म दिया।

अंग्रेजों ने 1780 ई. में गया, हजारीबाग, मुंगेर, पलामू, मानभूमि, सिंहभूमि और छोटानागपुर को लेकर इन्हें एक कलेक्टर की अधीनता में रखा। इस समय इसकी राजधानी शेरघाटी में थी। फिर बाद में चतरा में रखा। इन्होंने झारखण्ड मे रामगढ़ को पहला, हिलेट्रेक्ट जिला बनाया, जहाँ से अंग्रेजों के इस शोषण नीति के खिलाफ समूचा झारखण्ड युद्ध का अखाड़ा बनता गया। यहाँ के आदिवासी अपनी जमीन, जल-जंगल अपने अधिकार, अस्तित्व एवं अस्मिता की रक्षा के लिए विभिन्न समय में भिन्न-भिन्न इलाकों में विद्रोह छेड़ दिया। यहाँ की जनता ने राजा-महाराजाओं को मालगुजारी देना

बंद कर दिया। नागवंशी राजाओं को शासन चलाना कठिन हो गया। अनेक गढ़ों या परगनाओं की जनता अपने राजाओं से अपनी सुरक्षा की मांग करने लगी एवं उसे युद्ध के लिए उत्तेजित करने लगी। सबसे पहले 1769 ई. में दालभूम के राजा ने अंग्रेजों के खिलाफ बगावत की मशाल अपने हाथों में ले ली। रामगढ़ के राजा रतन सिंह को सिरिपरगना की जनता और डुन्डीगाड़ा हजाम के राजा दुखन साय को एवं सोनपुर परगना खूँटी की जनता ने अपने-अपने क्षेत्र के राजाओं को आंदोलन के लिए ललकारा। जैसा कि एक मुण्डारी लोकगीत से भी पता चलता है -

बाबु रामे साय रोतोन सिंह	अर्थात् हे! राम साय और रतन सिंह
बाबु चंवर सबेन	तुम दोनों दोनों चंवर पकड़े
बाबु दुखन साय रोतन सिंह	हे! दुखन साय और रतन सिंह
बाबु चंवर तोले बेन	तुम दो चांवर गाड़ दो
बाबु हातु दोको बियुर केदा	हे! बन्धुओं वे (अंग्रेजो) गाँव घेर लिया है
बाबु चंवर साबे बेन	हे! बन्धुओं दोनों चांवर पकड़ो
बाबु दिसम दोको टापाओ केदा	हे! बन्धुओं वे देश को दखल कर लिया है
बाबु चंवर तोले बेन	हे! बन्धुओं तुम दोनों चांवर गाड़ दो

1767-80 ई. में तिलका मांझी उर्फ जबरा पहाड़िया ने विद्रोह का बिगुल बजाया। यह समय क्लीवलैंड के शासन काल का था। इन्होंने तिलका माँझी को पकड़ना चाहा था। किन्तु क्लीवलैंड की अचानक मृत्यु के बाद वारेन हेस्टिंग्स का शासन आया। तिलका मांझी ने इसके विरोध में युद्ध छेड़ा। इसी क्रम में वह पकड़ा गया। उसे घोड़े में बांधकर घसीटते हुए भागलपुर लाया गया और वहीं बरगद पेड़ में अंग्रेजों ने फांसी दे दी।

सन् 1797-99 ई. में मानभूम का भूमिज विद्रोह भड़क उठा। इसका संचालन गंगा नारायण ने किया था। सन् 1800 से 1802 में पलामू में भूखन सिंह के नेतृत्व में चेरो विद्रोह हुआ।

लरका विद्रोह - अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ 1828 ई. में वीर बुधु भगत ने लरका आंदोलन छेड़ा। यह आंदोलन अपने आप में एक बड़ा उग्र-हिंसात्मक तथा गुरिल्ला युद्ध था। वीर बुधु भगत के द्वारा चलाया गया

यह विद्रोह केवल आदिवासियों का ही नहीं वरन् सम्पूर्ण छोटानागपुर की भूमि, जल, और जंगल से था। जनश्रुतियाँ हैं कि वीर बुधु भगत दैव्य शक्ति से युक्त ऐसे महान स्वतंत्रता सेनानी थे, जिनके नेतृत्व में हजारों-हजार आदिवासी और मूलवासी अपने को बलिदान देने के लिए कूद पड़ते थे। राँची जिले के चान्हों सिलगाई गाँव में 17 फरवरी 1792 को जन्मे बुधु भगत की शहादत 13 फरवरी 1832 ई. को हुई। परन्तु यह पता नहीं चल सका कि वीर बुधु भगत को अंग्रेजी सेना ने मारा या स्वयं अपनी ही तलवार से उन्होंने अपना सिर काटकर शरीर से अलग कर दिया था, कि उसका सिर जाकर उसके घर के एक कोने में जा गिरा और धड़ दौड़ता हुआ एक किलोमीटर तक जाकर गिरा। उनके वंशज उस कोने में आज भी उनकी पूजा करते हैं।

कोल विद्रोह - 1824 ई. में जब आदिवासी स्वशासन में परिवर्तन हुआ। पूरे क्षेत्र को सरकार की सम्पति घोषित कर दामिन-इ-कोह के नाम से चिन्हित किया गया। तब उराँव-मुण्डाओं का दूसरा विद्रोह भड़क उठा उसे कोल विद्रोह की संज्ञा दी गई। पहले विद्रोह से सबक लेने की बजाय गैर आदिवासियों का जुल्म आदिवासियों पर बढ़ता जा रहा था।

छोटानागपुर के महाराजा (नागवंशी) ने अन्य लोगों की भाँति अपने भाई कुंवर हरिनाथ साही को मुण्डाओं को लूटकर सोनपुर परगना को जीने -खाने के लिए दिया था। उसने अपने भाई की देखा-देखी अपने परगना में कई सिक्ख, मुसलमान और राजपूत जैसे अहितकर लोगों को जमीनदारी दे दी। सिंगराय मानकी के बारह गाँवों को एक सिक्ख को दे दिया। जिस पर एक महाराज ने सिंगराय के गाय-बैल को भी लूट लिया। तमाड़ के मानकी ने बंदगाँव के कुछ लोगों की सहायता से अपने गाय-बैलों को छुड़ा लिया। तब महाराजा ने शेरघाटी (राजधानी) में केस कर दिया। जिसकी आज्ञा से चक्रधरपुर के जमादार ने इनको पन्द्रह दिनों तक गलत तरीके से कैद में रखा। वे दोनों जैसे भाग निकले, इसलिए जमादार ने उनकी बेइज्जती की। उन्होंने पोड़ाहाट में राजा को यह बात सुना दी, पर कुछ असर नहीं हुआ। उनकी जमीनें लूटी जा चुकी थीं। अब बाध्य होकर तीर-धनुष उठाने के सिवाय कोई उपाय नहीं था।

1831 को सोनपुर के सिंगराय मानकी और पोड़ाहाट के सुरगा मुण्डा ने भी सात सौ जवानों का एक दल तैयार किया। उन्होंने हरिसिंह और दयाल

सिंह नामक सिक्खों के गाँव लूट लिए और जला डाला। गिनगिरा गाँव में अली खाँ से भी मुण्डा लोग चिढ़े हुए थे। क्योंकि उसने नगदी लेन-देन में काफी बेईमानी की थी। उसके गाँव को लूटपाट करके जला दिया गया। जनवरी 1832 तक बागियों की संख्या बारह सौ तक पहुँच गई थी। प्रत्येक ग्रामों में बगावत और लड़ाई की तैयारी की निशानी "चियारी" यानि तीर घुमाया गया। इसका तात्पर्य था कि गाँव के लोग अस्त्र-शस्त्र तीर-धनुष आदि लेकर लड़ाई के लिए तैयार हो जाएँ। तीर के घुमाने के साथ ही उराँव लोग भी मिल गए।

कोल विद्रोह के कारण अंग्रेजों ने कई सुधार भी किए। अंग्रेज अधिकारी स्वयं देश की देखभाल करने लगे। उन्होंने क्लेक्टरी को फिर से विभक्त किया। छोटानागपुर, पलामू, खड़गडीह, रामगढ़, कुन्दा, जंगलमहल, धालभूम और मालभूइंयार महाल का सम्मिलित इलाका बनाया। इस नये प्रांत का नाम दक्षिणी पूर्वी सीमान्त प्रदेश रखा गया। अंग्रेज अधिकारी विलकिन्सन (1834) को इस नए प्रांत का मुख्य एजेण्ट बनाया गया। शासन की सुविधा के लिए इसे प्रांत के तीन प्रमुख बँटवारे किए गए- लोहरदगा, पलामू और मानभूमि जिला। प्रत्येक जिले मे एक सहायक एजेन्ट रखा गया। समूचे दक्षिणी पूर्व प्रांत की राजधानी लोहरदगा थी। परन्तु सहायक एजेन्ट का निवास राँची था। अतः उसके निवास के कारण इसे विशुनपुर (राँची) माना गया। बेशक बदनाम शासन से अच्छा शासन होने लगा। इसी विलकिन्सन अंग्रेज साहब के सुधारों का प्रभाव इतना पड़ा कि लोग उन्हें अलिकिशुन साहब के नाम से याद करते थे। इसी के नाम से उस समय राँची को किसुनपुर भी कहा जाता था। (सरयु महतो, राँची का इतिहास, पृ. 33)

बिहार बंगाल, उड़ीसा विभाजन पूर्व बिहार की राजधानी कलकत्ता थी। इसी अवधि में इसकी उपराजधानी शेरघाटी थी। सन् 1845 को अंग्रेज, ईसाई पादरियों, सरकारी अफसरों एवं अन्य लोग कलकत्ता और शेरघाटी से राँची तथा डोरण्डा की ओर बाढ़ के पानी की तरह छाने लगे थे। जिस कारण पुनः राँची तथा डोरण्डा का मैदान हिल उठा था। इस समय भी डोरण्डा और राँची के मुण्डा-उराँव खूँटी तथा अन्य क्षेत्र में पलायन कर गए। परिणामतः उनमें आक्रोश की भावना जागी। तब तक खूँटी क्षेत्र बाहरी लोगों के अतिक्रमण से दूर था।

अंग्रेजों ने छोटानागपुर में फूट डालो और शासन करो की नीति बनाई। यहाँ के आदिवासियों तथा गैर आदिवासियों को खण्ड-खण्ड कर उन्होंने इनकी सांस्कृतिक एकता को उखाड़ फेंकने की कोशिश की। एक ही जाति समाज के लोगों को रोमन, आंगिल्कन, एस.पी.जी. लुथेरन और डुबकी आदि ईसाई धर्म के कई मिशन समुदायों में धर्मानांतरित किया गया। यहाँ के कुछ लोगों को अपना व्यापार या उद्योग चलाने के लिए असम के चाय बागानों में एवं अण्डामन-निकोबार में मजदूर के रूप में अंग्रेज ले गये।

1857 ई. में अंग्रेजों के विरोध में देश भर में भारत छोड़ो आंदोलन के अन्तर्गत सिपाही विद्रोह हुआ। इस समय झारखण्ड आन्दोलन भी इसी स्वतंत्रता आंदोलन में परिणत हुआ। इस आंदोलन को सिपाही विद्रोह भी कहा जाता है। पूरा झारखण्ड एक साथ दावानल की तरह धधक उठा। इस संघर्ष को दबाने के लिए अंग्रेजों ने सदानों (जो जमीनदार थे) को 'छूट' की व्यवस्था दी। उसे जमीनदारी, जागीरदारी, ठीकेदारी एवं पटवारी प्रदान करने की पूरी छूट दी। आदिवासियों के पहाड़ी देवा (बरपहाड़ी) जहाँ ये पूजा करते थे, वहाँ अंग्रेज जनता को फाँसी की सजा देने लगे। परिणाम यह हुआ कि 1875-95 में हर गाँव के अंग्रेजों, दलालों, जमीनदारों एवं ठीकादोरों के जुल्म के खिलाफ आंदोलन की शुरुआत हुई। तब तक खूँटी सबडिविजन के मुण्डा लोग पूर्ण रूप से संगठित थे।

बिरसा आंदोलन - खूँटी सबडिविजन के तमाड़ प्रखण्ड के चलकद गेरेड़े उलिहातु गाँव में 15 नवम्बर 1870 ई. को क्रांतिकारी वीर पुरुष का जन्म हो चुका था। ये सबसे पहले तो अनजाने में अंग्रेजों के चंगुल में फंस गए थे। परन्तु धीरे-धीरे यह देखा कि अंग्रेजों ने इस धरती की जनता के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, राजनीतिक संगठनों को छिन्न-भिन्न कर, उन पर अपनी संस्कृति सभ्यता थोप कर उनके आस्तित्व को सदा के लिए उजाड़ कर गुलाम बना डालने की सजिश कर रखी है तो बिरसा ने ईसाई धर्म का त्याग दिया। इन्होंने अंग्रेजों और जमीनदारों से मुक्ति पाने के लिए 1895 से 1900 ई. तक 'अबुअः दिसुम, अबुआः राइज' का स्वतंत्र आंदोलन चलाया। अंग्रेजों तथा ईसाइयों ने इन्हें पागल प्रमाणित कर दिया। जिस घटना ने बिरसा को आंदोलन में कूद पड़ने के लिए प्रेरित किया वह था साहबों का उत्सव या पर्व। इसलिए बिरसा ने उनके पर्व के समय सरवादाग के पदरियों पर धावा बोल

दिया। बिरसा की ओर से तीर चली और पादरियों की ओर से गोली। दोनों तरफ से खून की नदी बही।

उपर्युक्त सरवादाग गिरजा में अंग्रेज पादरियों पर बिरसा के भयंकर प्रहार को देखकर अंग्रेज सरकार ने उसे गिरफ्तार कर आजीवन कारावास दे देने का मन बना लिया। इसी उद्देश्य से सन् 1899 में अंग्रेजी सेना पूरी तैयारी के साथ बिरसा को पकड़ने के लिए निकल पड़ी। उनके दल ने रोंगो-दिगिड़ी नामक गाँव में डेरा डाला। दूसरी ओर बिरसा का दल भी सोयको के गुटुहातु गाँव में डेरा डालकर थमा हुआ था। जब बिरसा की गिरफ्तारी का बिगुल बजा तब बिरसा अपने दल को डोम्बारी बुरु (पहाड़) पर ले गया। यहाँ चढ़कर आश्वस्त जान पहाड़ के ऊपर बिरसा ढोलक बजाने लगा और सभी लोग (स्त्री-पुरुष) विजय घोष करते नाचने लगे। इसे देखकर अंग्रेजी सेना ऊपर ताकने लगी। अंग्रेजी सेना चतुर थी और सेना ने पहाड़ पर जाना उचित नहीं समझा। उसने पहाड़ के नीचे से ही युद्ध के लिए बिगुल बजा कर ललकरा और गोलियाँ चलने लगी। तब से बिरसा का दल भी अंग्रेजों पर तीर एवं ढेलकुसी की वर्षा करने लगा। दोनों पक्ष से जमकर लड़ाई हुई। बिरसा ने अंग्रेजों की गोली को पानी-पानी कर दिया। इस युद्ध में कितने लोग मारे गये। बचे लोगों ने इधर-उधर से भागकर अपने जान की रक्षा की। जिसके कारण बिरसा की शक्ति तब तक के लिए क्षीण हो गई थी।

बिरसा अंग्रेजों की आँखों में धूल झोंककर अपने सहयोगियों के साथ भागकर कुन्दरूगुटु जंगल में छिपे हुए थे। अतः उनकी गिरफ्तारी संभव नहीं थी। इसके लिए डिप्टी कमिश्नर ने एक चाल चली। उन्होंने बिरसा की गिरफ्तारी के लिए 500 रुपये इनाम देने की घोषणा की। इस गिरफ्तारी का सिलसिला 13 जनवरी 1900 को आरम्भ हुआ।

बिरसा को पकड़ने में शत-प्रतिशत दलाल मुण्डाओं का ही हाथ था। मानमारू और जरीकेल के सात आदमियों ने रुपये के लालच में बिरसा को खोज निकाला। अन्त में फरवरी 1900 को संतरा के पश्चिम वन से बिरसा की गिरफ्तारी हुई। गिरफ्तारी करवाने वालों को डिप्टी कमिश्नर ने नगद पाँच सौ रुपये दिया। बिरसा को राँची जेल में रखा गया। यहाँ बिरसा के साथ उनके सहकर्मी भी गिरफ्तार हुए थे। जेल में सभी मित्रगण बिरसा से मिलकर उन्हीं की बातों को कह-सुनकर कारावास की पीड़ा को शांत करते थे कि हे!

पिता हमारे लिए आपने कठिन से कठिन विघ्नों का सामना किया। पहले पूर्वजों का एक जाति-धर्म और भाषा-संस्कृति आदि मिट्टी में छिपी हुई जैसी थी। उसे आपने अपने ज्ञान से, शक्ति से हमें वापस दिलाया। उसे आपने हमारे दिलों-दिमाग में भर दिया। आपने हमारे मस्तक पर मिट्टी का टीका लगाया और आपने यह भी कहा कि आज से हमारे हाथ में मिले अधिकार को कोई नहीं छीन सकता है। यह हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।

जहाँ तक भाषा और साहित्य की बात है आगे चलकर किसी दिन इस साहित्य से (मुण्डारी बाइबिल से) अलग होकर स्वतंत्र मुण्डारी भाषा साहित्य की पुस्तक या ग्रंथ प्रकाशित हो। यही इसके लिए एक उचित आधार भी होगा। इतने दिनों तक ये सारी बातें लुप्त थीं परन्तु अब सामने आ रही हैं। यही प्रयास मुण्डाओं के मुण्डारी साहित्य की वृद्धि-समृद्धि के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा। परन्तु 9 जून 1900 ई. को सुबह जेल में बिरसा को अचानक हैजे के कारण मृत्यु हो गई। तत्पश्चात् उसके पार्थिव शरीर को कोकर लालपुर डिस्टलरी नदी के किनारे जलाया या गाड़ दिया गया। इसकी स्मृति में वहाँ समाधि स्थल बनाया गया है। जिसका श्रेय खिजरी विधानसभा क्षेत्र के विधायक श्री सावना लकड़ा के अथक प्रयास को जाता है। बिरसा की मृत्यु के बाद उनके मित्रों को फाँसी तथा कुछ को रिहा कर दिया गया। इसी के साथ बिरसा आंदोलन का अन्त हो गया। अंततः अंग्रेज सरकार ने आदिवासियों की जमीन को हस्तानान्तरण से बचाने के लिए 1908 ई. में छोटानागपुर टेनेन्सी एक्ट और संताल परगना टेनेन्सी एक्ट बनाना पड़ा।

जतरा टाना भगत आंदोलन - गुमला जिले के विशुनपुर प्रखण्ड के चिरांगी नवाटोली में सितम्बर माह 1888 को जतरा भगत का जन्म ऊराँव परिवार में हुआ था। पिता का नाम कोडल और माँ का लिबरी था। इन्होंने 1914 ई. में धार्मिक सुधार आंदोलन चलाकर समाज के लोगों को एक सूत्र में बांधा। साथ ही साथ यहाँ अंग्रेजों की हुकूमत, बेगारी आदि के खिलाफ आंदोलन छेड़ने की बात सिखाई। तब से टाना भक्तों ने जमीनदारी टैक्स देना बन्द कर दिया। टाना भगतों के इस असहयोग आंदोलन से सरकार विचलित हो गई। इसके खिलाफ 1916 ई. में जतरा भगत तथा उनके सहयोगियों को डेढ़ वर्षों तक जेल की हवा खानी पड़ी।

सन् 1918 ई. में राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का आगमन राँची में हुआ

था। तब इन टाना भगतों को गाँधी जी से मिलवाया गया था। जतरा टाना भगतों को गाँधी जी के जीवन व आंदोलन से एवं गाँधी जी टाना भगतों से बहुत प्रभावित हुए। इसी समय से टाना भगत गाँधी जी के भक्त बन बए। गाँधी जी एवं टाना भगतों के आंदोलन की चारित्रिक विशेषताओं में समानताएं थी। दिसम्बर 1919 में कुडु के टीका मैदान में इन्होंने अंग्रेजों के विरूद्ध में अहिंसा के मार्ग पर चलकर आंदोलन चलाने की घोषणा की थी क्योंकि इसी मैदान में 1832 में वीर बुधु भगत ने अंग्रेजों के खिलाफ हिंसात्मक आदोलन छेड़ा था।

टाना भगतों ने 1921 ई. के गया काँग्रेस अधिवेशन तथा 1927 ई. में साइमन कमीशन के खिलाफ अभियान में भाग लिया और इन्होंने भू-कर देना बन्द कर दिया। जिस कारण टाना भगतों की जमीन नीलाम कर दी गयी। इसके अलावे झारखण्ड में ठाकुर विश्वनाथ शाहदेव, शेख भिखारी, गणपत राय आदि गैर आदिवासी नेताओं ने भी अंग्रेजी सरकार के विरोध में मशाल उठाया था।

दूसरी ओर आनंद मसीह तोपनो, राय साहब बन्दी राम उराँव, ठेबले ऊराँव, पौल दयाल, जुएल लकड़ा आदि ने 1915 -29 में छोटानागपुर की जनता को एक मंच में लाकर आंदोलन के लिए प्रेरित करने की भावना से "छोटानागपुर उन्नति समाज" नामक संगठन की स्थापना की। पुनः इन्होंने सन् 1936-40 ई. में छोटानागपुर उन्नति समाज का नाम बदलकर "आदिवासी महासभा" का गठन किया। इसका मुख्य उद्देश्य था ग्रेटर छोटानागपुर अलग प्रांत का। इस समय "अंग्रेज भारत छोड़ो" का आंदोलन देश में शिखर पर था। भारत की भूमि पर युद्ध की ज्वाला थी। अंग्रेजों को भारत छोड़कर जाना तय हो चुका था। परिणामतः 14 अगस्त 1947 की आधी रात को भारत अंग्रेजों की गुलामी में मुक्त हुआ और इसी मुक्ति के साथ प्रथम आधुनिक काल का समय यहीं समाप्त हो गया।

(ख) मध्य आधुनिक काल
(15 अगस्त 1947 से 15 नवंबर 2000 ई.)

भारत में अंग्रेजों के दो सौ वर्षों की जमी नींव तब धारासायी हो गई, जब 14 अगस्त की आधी रात को बाध्य होकर उन्हें भारत छोड़कर जाना पड़ा। और 15 अगस्त 1947 को जब देश को अंग्रेजों से आजादी मिली तब इस मुक्ति की खुशी और आशा में झारखण्ड में भी शांति कायम हो गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही साथ झारखण्ड के आदिवासियों द्वारा चलाया गया जमीनदारी-ठीकेदारी और ब्रिटिश विरोधी आन्दोलन साकार हुआ। सन् 1953 ई. में जमीनदारी भेष्ट होने के साथ ही अंग्रेजों की इस जमीन्दारी भू-व्यवस्था का अंत हो गया। भारत के संविधान में देश या झारखण्ड के आदिवासियों के विकास की धाराएँ सुरक्षित की गई। फिर भी 1947 से अब तक आदिवासियों का जितना विकास होना चाहिए था, नहीं हो सका है। खासकर झारखण्ड के आदिवासियों का। कारण कि पुनः धीरे-धीरे झारखण्ड में बाहरी उपनिवेश जैसी स्थिति लायी गई। जिस कारण यहाँ की (आदिवासी) पहचान, सभ्यता-संस्कृति, आर्थिक, समाजिक आदि पारम्परिक आदिवासी व्यवस्था पर चौतरफा आक्रमण हुआ। इससे झारखण्ड की जनता में फिर से आक्रोश की भावना उठी। इन्हें स्वतंत्रता पूर्व उठाई गई आवाज छोटानागपुर अलग प्रांत या झारखण्ड अलग प्रांत की मांग को दोहराना पड़ा। इस समय छोटानागपुर में झारखण्ड पार्टी का बोलबाला था।

जयपाल सिंह के नेतृत्व में 1950 ई. से झारखण्ड पार्टी की राजनीति शिखर पर आ सकी। आगामी चुनावों में जनाधार विस्तार के उद्देश्य से 1950 में आदिवासी महासभा का पुनर्गठन झारखण्ड पार्टी के रूप में हुआ। सन 1952 के चुनाव में झारखण्ड पार्टी ने 32 सीटें जीत लीं। इस पार्टी ने 1955 में राज्य पुनर्गठन आयोग के समक्ष अलग झारखण्ड राज्य की मांग में प्रदर्शन किया। 1957 ई. के बाद कांग्रेस से विलय की ओर अग्रसर होने पर इसकी अधोगति होने लगी। सन् 1963 ई. में झारखण्ड पार्टी का विलय काँग्रेस में हो गया। परन्तु उपर्युक्त विलय से झारखण्डियों को अलग राज्य का लाभ नहीं मिला। जयपाल सिंह न सिर्फ अपने मंत्री पद से हटा दिये गये बल्कि उनके अनुयायी भी उनके विरूद्ध खड़े हो गये। इस समय काँग्रेस में कार्तिक उराँव

की बढ़त थी। जयपाल सिंह के बाद झारखण्ड पार्टी की बागडोर एन. ई. होरो ने सम्भाला। परिणाम स्वरूप 1971 से 1973 तक पुनर्जागरण का काल आया। 1967-68 तक झारखण्ड पार्टी बनती और बिगड़ती रही। इसी दौरान 1973 ई. में शिबु सोरेन विनोद बिहारी आदि के नेतृत्व में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा का गठन हुआ। इसका काल 1973-80 तक था और इस दौरान एक क्षेत्रीय आंदोलन के रूप में झारखण्ड आंदोलन का विस्तार हुआ। 1977 तक आते-आते जनता सरकार के समय इस क्षेत्र में क्रियाशील सभी पर्टियों ने मतदाताओं को आकर्षित करने हेतु अपने अन्दर झारखण्ड सेल गठित किया। 1978 के पश्चात् यह पार्टी फिर से जिन्दा हो आई। 1980-86 में सत्ता में वापसी के दौरान ही काँग्रेस ने झारखण्ड मुक्ति मोर्चा के साथ विशेष सम्बंध स्थापित किया। यह संबंध 1985 तक जारी रहा, तब मुक्ति मोर्चा ने बिहार विधान सभा में 14 सीटें जीतीं तथा इस तरह बिहार विधानसभा में विपक्षी दल के रूप में पुरानी झारखण्ड पार्टी का स्थान ले लिया। व्यवस्था के अन्दर से लड़ने का उत्साह हम अपने समय के प्रखरतम काँग्रेसी नेता कार्तिक उराँव के नेतृत्व में पाते हैं। जिनकी चेष्टाओं ने क्षेत्रीय काँग्रेस को जन्म दिया। इस क्षेत्र में सबसे प्रभावशाली प्रवक्ता के रूप में इनकी पहुँच, पार्टी नेतृत्व की चोटी तक थी। इन्हीं के प्रयासों के परिणामस्वरूप 1980 में झारखण्ड क्षेत्र में विकास प्रक्रिया के सुदृढ़ीकरण के लिए छोटानागपुर संथाल विकास प्राधिकार का गठन हुआ। ऐसे ही प्रयास काँग्रेस के ही देवेन्द्रनाथ चाम्पिया द्वारा भी हुए, जिनके नेतृत्व में 1985 में बिहार विधान मण्डल के झारखण्ड क्षेत्र के 52 विधायकों ने झारखण्ड क्षेत्र में केन्द्रीय प्रशासन की मांग के साथ एक संयुक्त स्मार पत्र देश के प्रधानमंत्री को दिया।

1980 में राँची विश्वविद्यालय में झारखण्ड की भाषाओं के पठन-पाठन और शोध को प्रोत्साहन देने के उद्देश्य से जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग की स्थापना हुई। तब से यह झारखण्ड विषयक गोष्ठियों का केन्द्र भी बनता गया और इसने झारखण्ड चिन्तन को एक तारतम्यता दी। विभाग के वृहत्तर उद्देश्य झारखण्ड सांस्कृतिक पुनर्निर्माण में देश में अन्यत्र उठ रही इस तरह की समस्याओं के समाधान के लिए रास्ता खुलने की उम्मीदें बनने लगीं।

झारखण्ड का पुनर्निर्माण : 1986 से अब तक इस आंदोलन में लगे विभिन्न दलों में समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से आजसू (ऑल झारखण्ड

स्टूडेन्टस यूनियन) और जेसीसी (झारखण्ड को-ऑर्डिनेशन कमेटी) का गठन क्रमशः 1986 और 1987 में हुआ। कई बार झारखण्ड बंद तथा रैली के आयोजन ने राज्य तथा केंद्र सरकार का ध्यान आकर्षित किया। केन्द्र सरकार ने दक्षिणी छोटानागपुर के कमिश्नर को अपने स्तर पर झारखण्ड आन्दोलनकारियों से बातचीत शुरू करने का निर्देश दिया। कमिशनर के आवासीय कार्यालय में आंदोलनकारियों के साथ सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में वार्त्ता हुई। प्रतिनिधि मण्डल ने झारखण्डियों की आर्थिक, सामाजिक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक समस्याओं पर प्रकाश डाला। कमिश्नर का विचार था कि मूल समस्याओं का समाधान आर्थिक विकास द्वारा सभंव है। किन्तु प्रतिनिधियों ने झारखंडियों के सांस्कृतिक पहचान के सवाल के महत्व पर जोर डाला और उनके विचार से झारखण्ड को राजनीतिक स्वायत्तता प्रदान करना ही एकमात्र समाधान था। दूसरी वार्त्ता 31 मई 1980 को पटना में हुई, जिसमें केन्द्र सरकार (गृह मंत्रालय) और बिहार सरकार के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। कई महत्वपूर्ण निष्कर्ष आए। दूसरी त्रिपक्षीय वार्त्ता 1-1 अगस्त 1989 को दिल्ली में बुलायी गयी। गृह मंत्री बूटा सिंह द्वारा आहूत बैठक में झारखण्ड मुक्ति मोर्चा ने भी एक स्मार पत्र प्रस्तुत किया। जेसीसी द्वारा प्रस्तुत दृष्टिकोण पत्र में क्षेत्रीय स्वायत्तता की अवधारणा को एक विस्तृत व्याख्या के साथ रखते हुए इस बात की चेष्टा की गयी कि यह स्पष्ट हो जाए कि झारखण्ड क्षेत्र की अपनी पहचान है, जो प्रस्तावित झारखण्ड राज्य के तत्त्कालीन जिलों में परिलक्षित होती है। जेसीसी का दृष्टिकोण पत्र राज्य पुनर्गठन आयोग 1954 के तर्कों का भी खण्डन करता है। जिसके आधार पर भारत सरकार ने अलग राज्य की मांग को अस्वीकार कर दिया था।

झारखण्ड पर अगली वार्त्ता 4 दिसम्बर 1989 को दिल्ली में हुई, जिसमें झारखण्ड विषयक समिति के गठन का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इसी बीच आम चुनाव के आने और केन्द्र में सरकार बदलने से झारखण्ड मामला कठिनाई में पड़ गया। झारखण्डियों को भय होने लगा कि नयी (वी.पी.सिंह) सरकार में झारखण्ड विषयक समिति का अब खत्मा हो जाएगा और झारखण्ड का मामला एक लम्बे समय के लिए खटाई में पड़ जाएगा। कई उतार-चढ़ाव के बाद 25 अप्रैल 1991 को गृहमंत्री ने झारखण्ड विषयक समिति को बुलाया। (आर. डी. मुण्डा, प्रभात खबर, 1 फरवरी, पृ. 4)

लम्बे झारखण्ड संघर्ष व झारखण्ड आंदोलन के दौरान 1 अगस्त 1991 को बिहार विधान सभा द्वारा 'झारखण्ड क्षेत्र विकास परिषद् विधेयक' पारित कर विधान परिषद् की स्वीकृति के लिए भेजा गया। स्वीकृति के बाद 'झारखण्ड विषयक कमिटी की रिपोर्ट सरकार ने 23 मार्च 1992 की लोक सभाओं में रखी। केन्द्र सरकार की ओर से प्रधानमंत्री ने 15 अगस्त 1993 को लाल किला से घोषणा की कि झारखण्ड राज्य निकट भविष्य में ही बनेगा। स्थिति की नजाकत देखते हुए बिहार सरकार ने 20 सितम्बर 1994 के दिन फिर से विधान सभा में झारखण्ड क्षेत्र स्वशासी परिषद् विधेयक 1994 पारित किया और उसी दिन विधान परिषद की स्वीकृति के लिए भेज दिया। 24 सितम्बर को राज्यपाल की स्वीकृति के बाद दिल्ली भेज दिया गया और 26 सितम्बर 1994 के दिन दिल्ली में बिहार के मुख्यमंत्री और आंतरिक सुरक्षा के राज्य मंत्री ने प्रधानमंत्री के समक्ष 'झारखण्ड क्षेत्र स्वशासी परिषद' (जैक) के गठन के लिए एक समझौते पर हस्ताक्षर किया। ठीक 7 माह 14 दिन के पश्चात् 9 अगस्त 1995 को कल्याण एवं योजना मंत्री बिहार सरकार ने जैक का विधिवत उद्घाटन किया तथा अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष के पद की शपथ दिलाई। अध्यक्ष का पद उप-मुख्यमंत्री के समकक्ष तथा उपाध्यक्ष का पद कैबिनेट मंत्री के समकक्ष माना गया और यह भी घोषणा की गई कि इस जैक का अध्यक्ष सदैव "आदिवासी" ही होगा। (सिंह और तिवारी, 1999, पृ. 154-166)

जनजातीय क्षेत्र के रूप में विकास केंद्रित कार्यों के सम्पादन के लिए राज्य सरकार द्वारा छोटानागपुर (उत्तर दक्षिण) पलामू क्षेत्र स्वशासी परिषद् की स्थापना की गई थी। जैक अपने कार्यकलापों का संचालन करता रहा किन्तु अलग राज्य की मांग विभिन्न राजनीतिक पार्टियों द्वारा जारी रही।

यहाँ यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जनाकांक्षा के अनुरूप क्षेत्रीय पार्टियों के साथ-साथ राष्ट्रीय पार्टियों ने भी अलग झारखण्ड राज्य की मांग को गम्भीरता से लिया और इसे अपनी नीति एवं कार्यक्रमों में शामिल कर लिया। इसी के तहत इस झारखण्ड क्षेत्र का नाम भाजपा ने वनांचल रखा। जनसंघ के विघटन एवं जनता पार्टी के बिखरने के बाद 6 अप्रैल 1980 भारतीय जनता पार्टी का गठन हुआ। इसके 8 वर्षों के बाद 8 अप्रैल 1988 को भाजपा ने आगरा के अधिवेशन में 'वनांचल' शब्द का प्रयोग पहली बार

किया और अलग राज्य के गठन का प्रस्ताव पारित किया। 1988 के 30 अप्रैल को बिहार प्रदेश भाजपा कार्यसमिति ने अलग राज्य का प्रस्ताव पारित किया। अगस्त 1989 में झारखण्ड विषयक समिति का गठन काँग्रेस द्वारा किया गया। शुरू में इस कार्यसमिति द्वारा भाजपा का विरोध किया गया किन्तु 25 अप्रैल 1990 में भाजपा को इसमें शामिल किया गया; किन्तु अंततः यह समिति टूट गई। 1991 में बिहार विधानसभा द्वारा झारखण्ड बिल पारित होने के पश्चात भाजपा ने धीरे-धीरे वनांचल नाम को छोड़कर झारखण्ड शब्द को स्वीकार कर लिया। इसके बाद सम्मिलित प्रयास झारखण्ड के लिए होने लगा। अंततः 2 अगस्त 2000 को लोक सभा में बिहार पुनर्गठन विधेयक को मंजूरी दी गई। 11 अगस्त को राज्य सभा ने भी स्वीकृति दी तथा राष्ट्रपति की मंजूरी 25 अगस्त 2000 को मिली। गृह मंत्रालय द्वारा घोषणा की गई कि 1 नवम्बर 2000 को झारखण्ड राज्य अस्तित्व में आ जाएगा और 15 नवम्बर 2000 (बिरसा जयन्ती) के दिन से विधिवत झारखण्ड राज्य कार्य करना प्रारंभ कर देगा। (राम कुमार तिवारी, पृ. 02) इस प्रकार झारखण्ड का आधुनिक काल जैक के कार्य क्षेत्र से लेकर 18 जिलों के झारखण्ड राज्य से है।

आदिवासी राज्य झारखण्ड को पूर्ण रूप से अपनात्मक रूप देने के उद्देश्य से धीरे-धीरे पुनः झारखण्ड अलग राज्य की लड़ाई यहाँ के आदिवासियों ने दोहराया। परिणामतः झारखण्ड का मुख्य प्रतिनिधि आदिवासी ही हो की शर्त्त पर यह राज्य बना जिसकी चर्चा पहले की गई है।

वर्त्तमान या उत्तर आधुनिक काल
(15 नवम्बर 2000 से आरम्भ)

18 जिलों का नव निर्मित झारखण्ड राज्य 15 नवम्बर 2000 ई. को अपने अस्तित्व में आ गया। इसी दिन से झारखण्ड के इतिहास में उत्तर आधुनिक काल का आरम्भ माना जा सकता है।

झारखण्ड की राजधानी राँची है। प्रथम मुख्य मंत्री श्री बाबूलाल मरांडी आदिवासी और श्री प्रभात कुमार प्रथम राज्यपाल थे।

झारखण्ड की धरती प्राकृतिक सम्पदा से परिपूर्ण है। यह भू-भाग आदि काल से एक औद्योगिक केन्द्र है। देश के बड़े-बड़े कल-कारखानों की स्थापना यहाँ अवस्थित हैं। इन उद्योगों की स्थापना के लिए यह भू-भाग जितना उपयोगी साबित हुआ है उतना ही औद्योगिक क्षेत्रों की जनता भी। ये देश-दुनिया तथा क्षेत्र के विकास के लिए शांतिपूर्ण ढंग से जगह जमीन या गाँव को दान कर दिया है, खुद बेघर-बार होकर। झारखण्ड की भोली-भाली जनता ने देश-दुनिया के विकास में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है। इस प्रकार झारखण्ड के आदिवासियों में राष्ट्रीयता की भावना भरी हुई है। इस सहभागिता के अभाव में शायद उद्योगों की कल्पना नहीं की जा सकती थी झारखण्ड में। वहीं झारखण्ड राज्य की जनता विशेषकर आदिवासी जनों के लिए अब यह योगदान अभिशाप प्रमाणित होता जा जा रहा है। यही कारण है कि इनमें राष्ट्रीयता की भावना लुप्त होते जा रही है। इसका जीता-जागता उदाहरण कोयल कारो परियोजना और नेतरहाट फायरिंग रेंज का बन्द होना है। इन परियोजनाओं के खिलाफ यहाँ एक प्रश्न उठता है कि ऐसा क्यों? कोई हमें खाना परोस रहा है और हम उसे तिरस्कार कर रहे हैं। इसलिए कि उपर्युक्त परियोजना की स्थापना ने यहाँ के गाँवों के गाँव, मौजाओं के मौजा, पड़हाओं के पड़हा, भाषाओं की भाषा और सभ्यता-संस्कृति को डूबा देने में तत्पर हैं। ये परियोजनाएँ अपने क्षेत्र में अवस्थित गाँव की जनता को निकाल बाहर कर देने में सक्षम हैं योजना के बहाने।

पुनः यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या किसी भी क्षेत्र में कोई उद्योग की स्थापना की जाती है तो क्या उस इलाके की जनता का विस्थापन कर देना ही होता है? नहीं। बिल्कुल नहीं। जिस किसी भी क्षेत्र में कोई भी उद्योग की

स्थापना के पीछे देश के विकास के साथ-साथ उस क्षेत्र की जनता के चौतरफा विकास को वर्त्तमान से भविष्य को भी ध्यान में रखकर उनके विकास को प्राथमिकता दी जाती है। वो भी विस्थापितों को पुर्नवास करते हुए। झारखण्ड के इतिहास के भूत कालों में भी ऐसा ही हुआ।

तो क्या झारखण्ड में स्थापित उद्योगों को स्थापना के पीछे भी यही अवधारणाएँ रही हैं? संभवतः नहीं। यहाँ 1960 ई. के लगभग राँची में एच. ई.सी. की स्थापना हुई। इस भू-भाग में बसे गाँव, वहाँ की आबादी विस्थापित हो गई मात्र मुआवजा लेकर। विस्थापित हुए लोग अपनी भूमि, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक से सदा के लिए कट गए। एच.ई.सी. के संचालन के लिए भारी संख्या में अफसर, कर्मचारी, मजदूर, व्यापारी और बाहर की आबादी को भारी संख्या में यहाँ वास मिला । झारखण्ड की जनता जो कुछ भी एच.ई.सी में कार्यरत हैं उनकी संख्या बहुत ही कम है। इस भूभाग से जिन्हें उठाया गया वे आज तक बेघर-बार, बेरोजगार हो कर भटक रहे हैं। वहीं दूसरी ओर एच.ई.सी. (हटिया कारखाना) वर्त्तमान में बन्द होने के कगार पर है। ऐसा क्यों? इसलिए कि राजनीतिज्ञों, अफसरों, इंजिनियरों के निजी स्वार्थ एवं सरकार की उदासीनता का होना। तो झारखण्ड में ऐसी परियोजनाओं की स्थापना का क्या औचित्य है? कोई औचित्य नहीं है। विकास के नाम पर यहाँ के विनाश का समर्थन नहीं किया जा सकता। इस नीति से झारखण्ड का खंडित होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि झारखण्ड में आदिवासी की सख्या का प्रतिशत रफ्तार से घटकर 27 प्रतिशत मात्र रह गई है।

तब यहाँ फिर प्रश्न उठता है कि झारखण्ड राज्य में उद्योगों की स्थापना न हो? क्यों नहीं हो? कल-कारखानों की स्थापना हो और इसकी अहम् गुंजाइश भी है यहाँ। झारखण्ड राज्य के विकास का यही एक विकल्प है। इसलिए यहाँ उद्योगों का जाल बिछा देना चाहिए बिना किसी का विस्थापन किए हुए। झारखण्ड के शिक्षित बेरोजगारों का सर्वेक्षण कर सबको उनकी योग्यता के अनुसार सरकारी तथा गैर सरकारी कार्यालयों में (खासकर आदिवासी बेरोजगारों को स्वरोजगार की ओर न अग्रसर कर, क्योंकि स्वरोजगार व्यापार संबंध उनके लिए एक अकुशल प्राप्त नई आर्थिक व्यवस्था है) नौकरी दे दी जाए। इस तरह से झारखण्ड में शांतिपूर्ण वातावरण स्वतः कायम हो जाएगा।

नव गठित झारखण्ड राज्य की नीति भी यही होनी चाहिए थी। यहाँ की जनता की उन्नति के प्रति उदार होना चाहिए। क्योंकि दूसरों की भलाई में ही अपनी भलाई है।

वर्त्तमान झारखण्ड सरकार में तृतीय-चतुर्थ श्रेणी की नौकरियों से लेकर बड़े से बड़े पदों में बाहरी बैठे हुए हैं। यहाँ की जनता की भलाई के प्रति उनमें कितना उत्सुकता है? बिल्कुल नहीं। अतः झारखण्ड की जनता दूसरों की भलाई में अपने भलाई की चटनी चाट चुकी है। एच.ई.सी., बोकारो और जमशेदपुर आदि जगहों को त्यागकर। झारखण्ड की जितनी भी तृतीय एवं चतुर्थ वर्ग की नौकरियाँ हैं यहाँ की हैं। यह नीति देश के सभी राज्यों की है। परन्तु झारखण्ड सरकार की नीति साफ नहीं है। झारखण्ड में झारखण्डी या आदिवासी नहीं दिखाई दे तो जनजातीय क्षेत्र के विकास के उद्देश्य से 'झारखण्ड क्षेत्र स्वाशासी परिषद' के गठन और झारखण्ड राज्य के बनने का क्या औचित्य रहेगा।

झारखण्ड अलग राज्य की मांग बहुत पुरानी थी। इसे सर्वप्रथम आदिवासियों ने शुरू किया था, अपने जमीन, जल, जंगल की रक्षा के मरफत। क्योंकि इस भूभाग में सर्वप्रथम आदिवासियों का वर्चस्व था, उसका अपना साम्राज्य था। बाद में यहाँ की जनता इतिहास के कालक्रम में सदा शोषण का शिकार होती चली गई। इसी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि शोषण ने ही तो झारखण्ड आंदोलन को जन्म दिया था। इसका गवाह झारखण्ड का इतिहास है।

अतंतः इन्हीं आंदोलनों के मारफत अंग्रेज सरकार को 1908 ई. में आदिवासियों की जमीन की रक्षा के लिए टेनेन्सी एक्ट बनाना पड़ा। पुनः वह आंदोलन तेज होते-होते देश की स्वाधीनता आंदोलन का रूप ले लिया। स्वतंत्र भारत में झारखण्ड के आदिवासी की रक्षा एवं विकास की नीतियाँ भारतीय संविधान में सुरक्षित है। आजाद भारत में इनके शोषण ने पुनः झारखण्ड आंदोलन को जन्म दिया। इस दौरान पचास वर्षों की लम्बी लड़ाई के पश्चात् 15 नवंम्बर 2000 को झारखण्ड अलग राज्य अपने अस्तित्व में आ गया। इसी के साथ ही झारखण्डियों की उम्मीदें, उम्मीद से भी अधिक थी कि हमारा राज्य वापस मिल गया। परन्तु, झारखंडियों की उम्मीदें साकार होने में देर है, अंधेर नहीं।

उपसंहार

भारत के इतिहास में झारखण्ड के इतिहास का एक अपना महत्व है। यहाँ के आदिवासियों ने ऋगवेद पूर्व सिन्धुघाटी में हड़प्पा मोहन-जो-दाड़ों सभ्यता-संस्कृति का निर्माण किया था। जिसका विस्तार दक्षिण भारत तक था। प्रागैतिहासिक कालीन झारखण्ड प्रदेश, वर्त्तमान नव गठित झारखण्ड राज्य से बाहर के राज्यों के हिस्सों में और यहाँ के आदिवासियों के निवास क्षेत्रों तक; एक समान राजनीतिक, भौगोलिक क्षेत्र, संस्कृति तथा एक जैसी सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था थी। इस काल में झारखण्ड की राजधानी (महापड़हा) रोहतासगढ़ थी और यह प्रदेश खुखरा कहलाता था। उप राज़धानी राँची पहाड़ी हेहल-बाजरा थी। इस खुखरा प्रदेश का प्रधान उत्तराधिकारी रोहता या रोहित उराँव था। रोहतासगढ़ रोहता उराँव ने बसाया था, जिस कारण यह नाम दिया गया था। इनके शासन काल में इनके ही वंशज असुरों के उद्योग से झारखण्ड का यह भू-भाग प्रभावित हुआ था। इसके विरोध में असुरों से मुण्डाओं का युद्ध हुआ था। पराजय के साथ ही झारखण्ड का अधिकार मुण्डाओं के हाथ में आया। यहीं से प्राक्-इतिहास युग का अंत हो गया और इतिहास युग (प्राचीनकाल) का आरम्भ हुआ। एक युग का अंत और नये प्रतिनिधि का चुनाव भी होना था। 6वीं शताब्दी (प्राचीन काल) में प्रथम मुण्डा महाराजा सुतिया मुण्डा बने। सुतिया मुण्डा के द्वारा बसाया गाँव सुतियाम्बे कहलाया। इन्होंने सुतियाम्बे को झारखण्ड की राजधानी रोहतासगढ़ से बदलकर बनाया।

अतः प्राचीन काल में वृहत् झारखण्ड की राजधानी सुतियाम्बे गढ़ थी। उप राजधानी चुटिया थी। यहाँ चुटिया गोत्र के सुतिया मुण्डा के बाद उसका बेटा मंगरा मुण्डा या मदरा मुण्डा 7वीं शताब्दी में सुतियाम्बे का महाराजा या सिंगबोंगा राजा नियुक्त हुए। मदरा मुण्डा के शासन काल के अंतिम चरण में हिन्दुओं का समावेश इनके राजदरबार में हो चुका था। इसी समय फणिमुकुट राय नामक नागवंशी बालक को मदरा मुण्डा ने गोद लिया और उसे पाल-पोस कर बड़ा किया था। तब से मुण्डा समाज में आदि धर्म सरना की पद्धति की दूसरी नई पद्धति, हिन्दु पद्धति का समावेश हो गया। पुनः महाप्रभु चैतन्य के भ्रमण ने इनके धर्म को प्रभावित किया था। 8वीं

शताब्दी के आरम्भ में संवत् 64 में मुण्डा और उराँवों ने फणिमुकुट राय को सिङबोंगा राजा नियुक्त किया था। इसी के साथ झारखण्ड का आदिवासी स्वाशासन नागवंशियों के हाथ में चला गया और प्राचीन काल का इसी के साथ अंत होकर मध्यकाल का अंत हो गया। यह काल उत्तर भारत के हिन्दु या राजपूत काल का ही एक अंग था। इसी राजनीतिक परिवर्तन के साथ ही झारखण्ड में आदिवासी काल का अंत हो गया।

मध्यकाल व राजपूत काल में वृहत् झारखण्ड की राजधानी प्रथम नागवंशी राजा फणिमुकुट राय से चतुर्थ नागवंशी राजा मदन राय तक सुतियाम्बे थी। इसके बाद क्रमशः चुटिया, खुखरा, ढोंएसा, पालकोट (भौंरो) और अंत में रातुगढ़ है। वर्त्तमान में यह गढ़ झारखण्ड के उराँव-मुण्डा और सदानों या नागवंशियों के महापड़हा का अवशेष के रूप में एवं एक सांस्कृतिक पहचान के रूप में कार्यरत है, न कि नवगठित झारखण्ड राज्य की राजधानी या शासन प्रणाली के रूप में। इसी तरह उराँव पड़हा और मुण्डा पड़हा पट्टी भी एक जाति विशेष के रूप में रह गया जो पहले झारखण्ड का स्वशासन इसी संविधान के द्वारा संचालित होता था। महापड़हा को छोड़कर अन्य नीचे के पड़हाओं में अब तक पूर्णतः विशुद्ध आदिवासी संस्था के रूप में उसमें आदिवासियों का ही भागीदारी है। महापड़हा के रूप में उराँवों का मुड़मा मेला और मुण्डाओं का सुतियाम्बे में इंद मेला है।

मध्यकाल के आरम्भिक दौर में आदिवासियों के अधिकार खोते ही रोहतासगढ़, नंमदनगढ़, हरदीनगर आजमगढ़, पालीगढ़ आदि गैर आदिवासी व आर्यों के अधिकार में चला गया जिससे उन क्षेत्रों को त्याग कर उराँव आदि मध्य झारखण्ड की ओर अपनी जातीय बहुलता की ओर एकत्रित होते गए। यही कारण है कि झारखण्ड के वृहत् भू-भाग कटते-कटते छोटा होते गया।

नागवंशी शासन काल मे राजा पद के लिए नागपुर के राजपूतों को आमंत्रण दिया गया। महाराजा पद के लिए आदिवासी चुनाव प्रक्रिया ही थी। लेकिन इसके शासन काल में मुगलों की भाँति राजा पद हासिल करने की होड़ थी। आदिवासी शासन काल में एक शताब्दी पर झारखण्ड के मुख्य उत्तराधिकारी का चयन होता था। राजधानी का जगह बदलना भी इनकी परिस्थिति के अनुकूल ही हुआ करता था। वहीं नागवंशियों के समय में एक युग के अन्दर कई महाराजा नियुक्त होने के प्रमाण मिलते हैं तो कहीं-कहीं

तीन वर्ष की उम्र वाले भी राजा पद के दावेदार। इस राजनीतिक दौर में या आदिवासी स्वशासन काल के बाद खासकर उराँव और मुण्डाओं को कई आर्थिक परेशनियों का निर्वाह करना पड़ा था। इनकी भू-व्यवस्था में परिवर्तन तथा एक जगह से दूसरे जगह राजधानी बनाते रहने के कारण इस क्षेत्र से उस क्षेत्र का प्रवास गमन करना पड़ा और नये क्षेत्र में नए रूप से खेती के लिए खेत बनाने पड़े थे। मुख्यतः 1765 ई. में बिहार बंगाल और उड़ीसा का दीवानी ईस्ट इंडिया कम्पनी को सौंप देने के बाद छोटानागपुर राज में कम्पनी सरकार का जो शासन और शोषण, अत्याचार, अराजकता का दौर शुरू हुआ। उराँव और मुण्डाओं के द्वारा बने-बनाये खेतों का सर्वे कर उसके नाम से लगान बाँध दिया गया तथा मालगुजारी नहीं दे सकने वालों की जमीने जब्त कर ली जाती थी। यह अधिकार सरकार द्वारा नियुक्त जमीनदारों, ठीकेदारों, सरदारों और दीवानों को सौंपा गया था। ये जमीनदार, ठीकेदार, दीवान, सरदार नागवंशी, मुगल और राजपूत ही थे। जिससे तंग आकर झारखण्ड के आदिवासियों द्वारा अलग-अलग समय में कई आंदोलन भड़क उठे थे। जिसमें तिलका माँझी आंदोलन, चेरो आन्दोलन, टाना भगत आंदोलन, हो उन्नति समाज और आदिवासी महासभा आंदोलन हुए।

आजादी के बाद स्वतंत्रता की खुशी में शांत हो गया था। क्योंकि इसके पश्चात् झारखण्ड क्षेत्र में पुनः आदिवासी के हाथ में शासन की बगडोर आयी। सभी क्षेत्र से उराँव, मुण्डा, संताल आदि आदिवासी एम.एल.ए. एवं सांसद चुने जाने लगे। किन्तु आदिवासियों ने जल, जंगल और जमीन की सुरक्षा के लिए आंदोलन शुरू किया और इस आंदोलन ने झारखण्ड अलग प्रांत आंदोलन का रूप ले लिया था। परिणामतः एक लम्बी लड़ाई के बाद 15 नवम्बर 2000 ई. को यहाँ के आदिवासियों की स्मृति में 18 जिलों का अलग झारखण्ड राज्य अपने अस्तित्व में आ गया।

अंततोगत्वा 'झारखण्ड का इतिहास' अतीत से वर्त्तमान का संतोषजनक परिणाम है तथा झारखण्ड राज्य के लिए गौरव का विषय है। इसमें सर्जन एवं चितंन दोनों है। प्रभु प्रार्थना के साथ झारखण्ड के इतिहास का यह पर्यवेक्षण मैं अंत करता हूँ कि आने वाले काल (पीढ़ी) में इसकी और भी अधिक उन्नति होगी एवं भारत के अन्य इतिहास एवं संसार के दूसरे इतिहासों के बीच यह अपना स्थान बनाएगा।

झारखण्ड का इतिहास के विकास का यह एक संक्षिप्त विवरण है। सीमित सामग्री होने के कारण कहीं-कहीं तो तथ्यों का उल्लेख करके ही संतोष करना पड़ा है।

डॉ. सिकरादास तिर्की

जन्म : 20 सितम्बर 1954
ग्राम-भण्डरा, खूँटी (झारखण्ड)
माता : स्व. मंगरी देवी
पिता : स्व. सोहराई तिर्की
शिक्षा: एम. ए. (मुंडारी), पीएच. डी.
(राँची विश्वविद्यालय)

मुंडारी आधुनिक साहित्य के विकास में डॉ. सिकरादास तिर्की का योगदान उल्लेखनीय है। छात्र-जीवन से ही मुंडारी भाषा-साहित्य, संस्कृति एवं इतिहास के प्रति अगाध जिज्ञासा रखने वाले श्री तिर्की उरांव आदिवासी समुदाय से आते हैं, परंतु मुंडा क्षेत्र में पुरखौती निवास होने के कारण इनकी मातृभाषा मुंडारी है। साहित्य की सभी विधाओं में इनकी रचनाएं स्थानीय, क्षेत्रीय एवं राष्ट्रीय स्तर के पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं। मुंडारी एवं हिंदी दोनों ही भाषाओं में। मुण्डारी भाषा-साहित्य, संस्कृति, इतिहास पर चिंतन-मनन, लेखन व शोध निर्देशन के क्षेत्र में आप अपनी सक्रियता बनाए हुए हैं। यदि मूल विधा की बांत की जाए तो डॉ. तिर्की मूलतः गद्य लेखक हैं और कथा-साहित्य एवं इतिहास लेखन में इनकी रचनात्मक क्षमता का सर्वोत्कृष्ट रूप दिखाई पड़ता है। वैसे आप कवि भी हैं और आपकी कविताएं आपकी सृजनात्मकता के एक नए छोर तक पाठकों को ले जाती है।

प्रकाशित पुस्तकें : बा चण्डुअ आन तोअउ, झारखण्ड के आदिवासी और उनके गोत्र, वन अधिनियम 2006 (अनुवाद), मुण्डारी लोक साहित्य में इतिहास, मरङ गोमके जयपाल सिंह मुण्डा (अनुवादित नाटक) और कानि सड़गिर (मुण्डारी-हिंदी कथा संकलन)।

संप्रति : व्याख्याता, रामलखन सिंह यादव महाविद्यालय, राँची (झारखण्ड)
सम्पर्क : ग्राम-कुसई, डोरण्डा, राँची (झारखण्ड)
मोबाइल : 9798824118

प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन
चेशायर होम रोड, बरियातु, राँची-834009 झारखण्ड

ISBN : 978-93-81056-53-0